जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ७ | मार्गशीर्ष | किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम ए , एल एल बी
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम ए , डी लिट्
बाबू कामता प्रसाद एम आर ए एस
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) | विदेश में ४॥) | एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९७

विषय-सूची

ग्रन्थमाला-विभाग

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ७	दिसम्बर १९४० । मार्गशीर्ष वीर नि० स० २४६७	किरण २

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस]

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में सैद्धान्तिक-सामाजिक-राजनैतिक इत्यादि वार्ताओं के साथ साथ अनेक भौगोलिक नामों का भी उल्लेख हुआ है। पाठकों के परिचय के लिये हम उन्हें निम्नलिखित पंक्तियों में उपस्थित करते हैं, जिससे उन्हें पता चलेगा कि श्रवणबेल्गोल के लोगों को सारे भारत में फैले हुए स्थानों का परिचय था और वहां की यात्रा करने भारत के दूर दूर देशों से यात्री आया करते थे। हम इन भौगोलिक नामों को अकारादि क्रमानुसार लिख रहे हैं और जिस शिलालेख में उनका उल्लेख है उसका न० उसके आगे दे रहे हैं। साथ ही यथासंभव उस स्थान का परिचय भी देने का प्रयास किया है।

अजितसुरनगर १०५ (२५४) 'भक्त्या शक्त्या च मुक्त्यै जितसुरनगरे स्थापयद्भद्रमद्रौ'।

अणिणतटाक ४२ (६६)

अडेयारराष्ट्र अदेयरेनाडु २ (२०) सम्भवत पल्लव देश में था। आधुनिक अडयार (Adyar) से नामसाम्य है।

अन्दमासलु २४ (३५) श्रीकम्वय्यन् के राज्य म एक ग्राम था।

अमेले ३६१ (२५२) नामक एक ग्राम था।

अक्कनकट्ट ५९ (७३) परमगाव की सीमाओं में इसका उल्लेख है।

अनादिग्राम ११७ (२५९) कोंगुनाडु मे यह ग्राम था।

अय्यावले ६८ (१५९) 'अय्यावले सम्भवत बम्बई प्रान्त क बीजापुर (?) जिलान्तर्गत आधुनिक 'ऐहोले' का ही प्राचीन नाम है।' शक स० १०५९ से पूर्व यहा के एक राज्याधिकारी मल्लि सेट्टि थे। उनकी जैन धर्मपरायणा पत्नी चट्टिकब्बे ने श्रवणबेल्गोल में उनकी निषद्या निर्माण कराई थी।

अरकेरे १२० (३१८) यहां के वीर वीरपल्लवराय प्रसिद्ध थे।

अर्जुनशीतग्राम ३८२ (२८७) इस ग्राम के निवासी बघेरवाल संघवी जैनियों ने शक १५६७ मे यात्रा की थी। यह ग्राम सम्भवतः कहीं पर मध्यभारत में था।

अबरेहालु १२२ (३२६) शक सं० ११२२ में इस ग्राम को नागदेव हेग्गडे नामक दातार ने गोम्मटदेव की पूजा के लिए दान किया था।

अगडि ३६१ (२५२) के एक जौहरी ने मोसले के बहुव्यवहारिसेट्टि के प्रतिष्ठित तीर्थंकरों की पूजा के लिए दान दिया था।

आदितीर्थ १२३ (३७५) श्रवणबेलगोल का उल्लेख इस नाम से हुआ है।

आर्च्च ८९ (२३८) यह ग्राम श्रवणबेलगोल के पास में कहीं था।

आर्हनहल्लि ८३ (२४९) शक स० १६२१ मे मैसूर के राजा कृष्णराज ओडेयर ने यह ग्राम अन्य ग्रामों के साथ गोम्मटदेव को दान दिया था। इसलिये यह ग्राम मैसूर राज्यान्तर्गत श्रवणबेलगोल के निकट होना चाहिए।

इनुंगुर २३ (२८) शक सं० ६२२ के लगभग इनुंगुर के मेल्लगवासगुरु ने कटवप्र पर्वत पर देहोत्सर्ग किया था।

इस्थानपेठ ३४० (२१०) यहां के अग्रवाल जैनियो ने सं० १८०० मे यात्रा की थी॥ यह स्थान उत्तरभारत मे कही पर था।

उच्चंगि ५३ (१४३) व ९० (२४०) गङ्गवाडि के निकट यह एक मज़बूत किला था। विष्णुवर्द्धनादि कई होय्सलवंशी राजाओं ने इसे विजय किया था।

उज्जयनि (उज्जैन) १ (१) मालव देश की राजधानी।

उत्तनहल्लि ८३ (२४९) संभवतः मैसूर राज्य का एक ग्राम था।

उत्तेनहल्लि ४३४ (३५४) मुम्मडि कृष्णराज ओडेयर की सनद मे उल्लेख है।

ऋषिगिरि ३४ (८४) कटवप्रपर्वत (चिक्कबेट्ट) का अपरनाम है।

एडवल्लगेरे १२९ (३३४) शक सं० १२०५ मे इस ग्राम को श्रवणबेलगोल के जौहरियों ने नगरजिनालय के आदिदेव की पूजा के लिए दान किया था।

एरम्बरगे १३० (३३५) होयसल राज्य का एक देश था।

ओम्मलिगेयहालु ५१ (१४१ शक सं० १०४१ मे यहां पर एक पट्टशाला (वाचनालय) चालू थी।

कग्गेरे ९० (२४०) होय्सलनरेश नरसिंह ने बेलगोल की वंदना कर के सवणेरु के साथ इस ग्राम का भी दान दिया था।

कटवप्र (कलवप्पु) २७ २९, ३३, १५२ आदि। चिक्कबेट्ट का अपरनाम है।

कम्मतवाडि ४५९—४६० यहां की जिनमूर्तियां मिलती हैं।

कदम्बहल्लि में शान्तीश्वरबसदि (मंदिर) थी।

कम्बादु ४३३ ४३४ कृष्णराज ओडेयर की सनद में इस ग्राम का उल्लेख था और इस किक्केरि तालुका में लिखा था।

कबाले ८३ मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर ने शक स० १६२१ म बेलगोल के दर्शन कर के इस ग्राम को भी दान म दिया था।

कम्बणुनाडु ५१, ४९२ इस नाम के प्रदेश म ओम्मनि० ग्राम था जहा पर पट्टशाला स्थापित थी। यह होयसल नरेशों के राज्य के अन्तर्गत था।

कम्बादुनाथ अकरण १३७ हुल्लराज मन्त्री के दान में इसका उल्लेख है।

कमलपुर, कमुल्पुर ११८, ४०५ शक स० १५७० में यहा के बघेरवाल जीनासा आदि ने बेल्गोल में कोई धर्मकार्य किया था। यह स्थान उत्तर भारत में होना चाहिए। उल्लेख भी नागरीलिपि के लेख में है।

करवध ३४७ स० १८०० के नागरीलिपि के लेख में पानीपत के साथ इस स्थान का उल्लेख है।

करहाटक ५४ स्वामी समन्तभद्राचार्य ने इस स्थान पर वादभेरी बजाई थी। कोल्हापुर जिले का करहाट नामक स्थान यह बताया जाता है।

कर्णाटक, कर्णाटक देश ८३, १०६, ४३४ दक्षिण भारत का एक प्रदेश, जो वर्तमान के कन्नड जिलों के इर्दगिर्द फैला हुआ था। कन्नड के 'कन नाडु' शब्द से कर्णाट शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है 'कृष्ण प्रदेश'। वस्तुत यहा की जमीन की मिट्टी और स्त्री पुरुषों का रग काला ही है। हुएनसाग के समय में यहा चालुक्यो का अधिकार था और यह साम्राज्य दूर दूर तक फैला हुआ था।

कल्बप्पु १५९ के एक मुनि जी ने कटवप्रपर्वत पर १०८ वर्षों तक तप तपा था।

कल्ले ३२८ इस स्थान से श्री नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य श्री बालचन्द्र का सम्बध था। उनके उपदेश से मल्लय सेट्टि ने मल्लिनाथ की प्रतिमा निर्माण कराई था।

कल्लन ग्राम ४३४ मैसूरराज्यान्तर्गत था।

कलिंगदेश १३८, ४९९, होयसल नरेश एरेयङ्ग ने कलिङ्गदेश का विजय किया था। इसी यश प सोमदत्त नृप व विषय म कहा गया है कि उन्होंने कलिङ्गदेश का मस्तक विदीर्ण किया था। इन उल्लेखों में कलिंगदेश की गणना अन्य बड़े देशों के साथ की गई है। अतएव यह कलिंगदेश भारत का प्राचीन कलिंग और वर्तमान उड़ीसा के अन्तर्गत प्रदेश

होता है। मगध सम्राटों ने इस देश को कई बार जीता था। जैनपुराणों मे कलिंग देश का वर्णन भ० महावीर से भी पहले मिलता है। एक समय यहाँ श्री कृष्ण जी के वंशज जरत्कुमार राज्याधिकारी थे और उनकी सन्तति मे भ० महावीर के समय जितशत्रु नामक राजा राज्य करते थे। बीच में चम्पा के करकण्डु राजा के शासनाधिकारी होने का भी उल्लेख मिलता है। स्वयं भ० महावीर ने कलिंगदेश के कुमारीपर्वत पर पधार कर धर्मामृत वरसाया था। मालूम होता है कि उनके समय से ही कलिंग में श्रमण परम्परा दि० मुनियों का संघ) स्थापित हो गई थी, जिसका उल्लेख कलिंग के जैन-सम्राट् खारवेल के शिलालेख में हुआ है। कलिंग में जैनधर्म की महिमा खारवेल और उनके वंशजों द्वारा खूब विस्तृत हुई थी। बौद्धग्रन्थ 'दाठावंश' से भी वहाँ पर मध्यकाल तक जैनधर्म का प्रावल्य प्रमाणित होता है। चीनीयात्री हुएनसांग ने कलिंग राज्य को ५००० ली (८३३ मील) में फैला हुआ वताया था और निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) जैनियों का प्रावल्य लिखा था।

कल्कणिनाडु प्रदेश ५३, ५६ होय्सलनरेशों के शासनाधिकारमें यह प्रदेश था।

कल्लेह ग्राम १३६, यहां के बुसुवि सेट्टि ने विजयनगर नरेश बुक्कराय को प्रार्थनापत्र देकर एक शासन का जीर्णोद्धार कराया था। इस उल्लेख से यह ग्राम विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत प्रमाणित होता है।

कवट्ट ग्राम ३६, पता नहीं दक्षिण देश मे यह कहां था ?

काञ्चीपुर ५४, ९०, १३८, ३६० व ४८६, स्वामी समन्तभद्राचार्यजी ने यहाँ आकर वाद घोषणा और जैनधर्म की प्रभावना की थी। लेख नं० ९० से होय्सल सेनापति गङ्ग का भी सम्पर्क कांची से प्रकट होता है। लेख नं० १३८ व ४८६ बताते है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन ने काञ्चीपुर को कंपा दिया था। प्राचीनकाल से काञ्चीपुर जैनधर्म का केन्द्र रहा है। श्रीसमन्तभद्राचार्य, श्रीअकलङ्कस्वामी प्रभृति जैनाचार्यो ने यहां आकर धर्म की महिमा स्थापित की थी। हुएनसांग चीनोयात्री ने काञ्चोपुर को द्राविड़देश की राजधानी लिखा था और बताया था कि वहाँ अस्सी देवमंदिर और असंख्य (वौद्ध) विरोधी हैं, जिनको निर्ग्रन्थ (दि० जैन) कहते हैं। 'उत्तरपुराण' मे काञ्चीपुर को कलिंगदेश के अन्तर्गत लिखा गया है और वहाँ के वणिक्पुत्रों को लंका आदि द्वीपों से व्यापार करते हुए वताया है। कालिदासजी ने 'रघुवंश' (४, ३८-४३) मे कलिंग का विस्तार दक्षिण मे महेन्द्रपर्वत तक वताया है। यह महेन्द्रपर्वत पूर्वीय घाट पर्वतमाला का एक भाग माना जाता है। ऐसी स्थिति मे 'उत्तरपुराण' का उपर्युक्त कथन तथ्यपूर्ण है। लेख नं० ४५५ में काञ्चीदेश का भी उल्लेख है। आधुनिक कांजीवरम् (Conjeevaram) ही प्राचीन कांचीपुर है।

काडलूर ग्राम २४ शक सं० ७२२ मे रणावलोक श्रीकम्वय्यन् के राज्यान्तर्गत यह ग्राम था।

कावेरी नदी ५९, गङ्गराज के सम्बन्ध में दक्षिण भारत की इस प्रख्यात नदी का उल्लेख हुआ मिलता है।

काशी ८४, ४३५, ४३९, लेखों में काशी का उल्लेख दान को सुरक्षित रखने के लिए शपथरूप में हुआ है, जिससे उसकी तीर्थजन्य मान्यता और पवित्रता प्रकट होती है। जैनियों का काशी एक पुरातन तीर्थ है। यहीं पर श्रीसुपार्श्वजी और पार्श्वनाथजी का जन्म हुआ था। सब से पहले श्रीऋषभदेव ने विहार कर के यहा पर जैनधर्म का प्रचार किया था। अन्तिम तीर्थकर भ० महावीर ने भी यहाँ की जनता को अपने धर्मोपदेश से कृतार्थ किया था। साराशत काशी जैनधर्म का एक प्राचीन केन्द्र रहता आया है।

किसूर—कीर्त्तिपुर ७, दक्षिण भारत का यह एक पवित्र स्थान था, जहाँ जाकर लोग समाधिमरण किया करते थे।

किक्केरे २४ महासामन्त रणावलोक श्रीकम्बय्यन् के राज्यान्तर्गत था।

कुम्भकोण ४३१ ४३६, ४ ७ यहा पर शक स० १७७८ में श्री अनन्तनाथ भगवान् की एक प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। यहाँ की श्रीनेका श्राविका शुभा ने चन्द्रनाथ स्वामी की प्रतिमा और शा तरण श्रेष्ठी ने नेमिनाथ स्वामी की प्रतिमा उसी समय प्रतिष्ठित कराई थी। ज्ञात होता है कि शक स० १७७८ में यहा एक बिम्बप्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न हुआ था।

कुम्मट १३०, होयूसलनरेश बल्लाल द्वि० ने इस स्थान को विजय किया था।

कुम्बेयनहल्लि ग्राम ४९५ होयूसल साम्राज्यान्तगत था।

कुरुक्षेत्र ५३, ५६, ५९, ८३, ४८६ लखों में कुरुक्षेत्र का उल्लेख दान को सुरक्षित रखने के लिये शपथ दिलाने में किया गया है। जैनग्रन्थों में इस क्षेत्र का ही उल्लेख कुरुजागल नाम से हुआ प्रतीत होता है। 'उत्तरपुराण' (६३।३४२ में इस प्रदेश को आर्यक्षेत्र के मध्य म सब से बडा लिखा है। इस देश में श्रीऋषभदेव के समान म० महावीर का भी विहार हुआ था। हरिवंश० (३।३७) कुरुवशी राजाओं ने इस प्रदेश पर दीर्घकाल तक राज्य किया था। उन राजाओं में ही तीर्थंकर चक्रवर्ती श्रीशान्ति, कुन्थु और अरह नामक चक्रवर्ती हुए थे। कुरुक्षेत्र में ही जरासध से यादवों का युद्ध हुआ था, जिसमें म० अरिष्टनेमि ने भी भाग लिया था। (१) (हरि० ५०।६४) कुरुक्षेत्र की रणभूमि आजकल थानेश्वर से दक्षिण को ओर बताई जाती है। वह अम्बाला और पानीपत के बीच में है। 'महाभारत' (आदि० १०९ १) के अनुसार कुरुदेश तीन भागों में विभक्त था, (१) कुरुक्षेत्र (२) कुरुस (३) कुरुजागल। उसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। हुएनसाग ने भी थानेश्वर के पास कुरुक्षेत्र (धर्मक्षेत्र) को स्थित बताया था। उसके समय म भी लाग कुरुक्षेत्र को पवित्र मानते थे।

कृष्णवेण्णा १३८ यह दक्षिण की कृष्णा नदी है।

केल्लङ्गेरे ग्राम ४०, १३७ श्रवणबेल्गोल के निकट था।

केल्लहनेहल्लि ग्राम ४८६ यह भी श्रवणबेल्गोल के निकट था।

कैलासशैल ४२ संभवतः वही कैलाशपर्वत है जहां पर भरत महाराज ने रत्नमयी जिन-प्रतिमाएं निर्मापीं थीं और यहीं से तीर्थंकर ऋषभदेव मुक्त हुए थे। (हरि० १२।८१) कहते हैं, बाहुबली स्वामी ने यहीं एक वर्ष तक प्रतिमायोग में स्थित रह कर तप तपा था। (हरि०११।९७) भरत महाराज के बनाये हुये रत्नमयी २४ चैत्यालयों के चहुंओर सगर के पुत्रों ने गंगा का प्रवाह बहाया था। (उत्तर पु० ४८।१०७—१०८) चक्रीपुत्र भगीरथ वरदत्त को राज्य देकर कैलाश पर्वत पर आये थे और शिवगुप्त मुनि से दीक्षा ले वहीं तप तपने लगे थे तथा केवल-ज्ञानी हुए थे। (उपु० ४८।१३८—१३९) 'आराधना कथाकोष' से (१।७४) प्रकट है कि अंजनचोर यहीं से मुक्त हुए थे। सारांशतः कैलाशपर्वत जैनियों का अति प्राचीन तीर्थ रहा है और वहां पर भ० महावीर के समय तक मनुष्यों का गमनागमन होता था। उपरान्त वह मनुष्य के लिए अगम्य हो गया।

कोंगुनाडु प्रदेश ११७ के अनादि ग्राम की गणना शक सं० १५३१ में की गई थी।

कोङ्गलि ग्राम ५६, शान्तल देवी ने इस ग्राम का दान किया था।

कोंगुप्रदेश ५६, १२४, १३०, १३७, १४४ इत्यादि यह प्रदेश होय्सलनरेश विष्णुवर्द्धन के आधीन था। अन्य होय्सल राजाओं का भी इस प्रदेश पर अधिकार रहा था।

कोट्टर ९ दक्षिण भारत के इस स्थान के गुणसेन गुरु ने समाधि मरण किया था।

कोट्टसा, ३७९ यदि यह कोई स्थान था तो महाराष्ट्र मे होना सम्भव है।

कोपण कोपल ४७, २३७, १४४ दक्षिण भारत का कोपण एक मुख्य तीर्थ था। दानवीर गङ्ग, हुल्ल आदि ने यहां पर असंख्य जिन मन्दिर आदि बनवाकर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया था। निजाम राज्यान्तर्गत रायचूर से नैऋत्य दिशा मे स्थित वर्तमान कोप्पल ही प्राचीन कोपण है। यहां ई० पूर्व ३री शताब्दी की प्राचीन कीर्तियां उपलब्ध हैं। महाराज नृपतुंग और महाकवि रन्न ने कोपण को एक महानगर और पवित्र तीर्थ लिखा था। 'चामुण्डराय पुराण' से स्पष्ट है कि तत्कालीन जैनी कोपण मे सल्लेखनापूर्वक देह त्याग करना विशेष पुण्यप्रद मानते थे। कई शिलालेखों से कोपण को क्रमशः तीर्थ, आदितीर्थ तथा महातीर्थ कहा गया है। श्रवणबेलगोल के शि० नं० ४७८ मे लिखा है कि 'कोपण तीर्थ के उच्चारण मात्र से मानो कैवल्य की प्राप्ति होती है।' सारांशतः कोपण की पवित्रता और महत्ता इन उल्लेखों से स्पष्ट है। यही नहीं यहीं पर आहवमल्ल और राजेन्द्रदेव चोल मे युद्ध हुआ था, जिसके कारण यह क्षेत्र कर्मवीरों के लिए आकर्षण की वस्तु है। ई० दसवीं

शताब्दी के लगभग इस स्थान पर सिलाहारवंश के राजाओं की एक शाखा का राज्याधिकार था। ११वीं शताब्दी के सिलाहारवंशी महामंडलेश्वर गोवणरस ने अपने को कोपणपुरवराधीश्वर लिखा था। एक समय कोपण महातीर्थ में जैनियों का प्राबल्य सर्वोपरि था। यहां पर असंख्य जिन मंदिर थे, जिनमें से लगभग एक दर्जन जिन मंदिरों का पता अब भी चलता है*। हुल्ल सेनापति ने यहां के 'चतुर्विंशति जिन मुनिसंघ' के लिये स्वर्ण का दान दिया था। कोपण की तुलना में बहुधा श्रवणबेलगोल आदि को जैन कविगण उपस्थित करते थे—यह उसके महत्व को बताता है। यहां से कनड भाषा के कई शिलालेख एवं जिनमूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। उनका परिचय हैदराबाद पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशित 'नं० १२ कोपबल' नामक ग्रन्थ में कराया गया है। सन ८८१ ई० के लेख से स्पष्ट है कि सर्वनन्दी भट्टारक ने यहां आकर समाधिमरण किया था। वह नगर के महान् उपकारक थे। लगभग १३वीं शताब्दी का एक शिलालेख बताता है कि मूलसंघ सेनगण के किन्हीं भट्टारक के शिष्य पट्टन स्वामी पायकगण थे, जिनकी वहां निषधि बनाई गई। १८वीं शताब्दि के एक लेख में देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक के शिष्य वर्द्धमानदेव द्वारा 'छाया-चन्द्रनाथ स्वामिन्' की प्रतिमा उकेरी जाने का उल्लेख है। १०वीं-११वीं शतादि के एक लेख में चावय्य द्वारा जटासिंहनन्दी आचार्य के चरण चिन्ह स्थापे जाने का जिक्र है। यहां के शिलालेख नं० ७ में सिंहनन्द्याचार्य के समाधिमरण का विशेष वर्णन है जो पश्चिमी चालुक्यनरेश विक्रमादित्य पंचम (सन् १००९—१०१७) के समय का है। श्री 'सिंहनदितम्मदिगल्' ने एक मास में इङ्गिणिमरण किया था×। इस अवधि में श्रीसिंहनन्दी अण्ण, मतिसागर अण्ण, नरलोका मित्र और ब्रह्मचारी अण्ण ने उनकी वैयावृत्ति की थी। इस बीच में सामिकुमार ने जिनबिम्ब की पूजा की थी। सिंहनन्द्याचार्य के समाधि ग्रहण कर लेने पर उपरान्त विट्ठकुडे की नागदेव बसदि के श्रीकल्याणकीर्ति जिनशासन के नायक हुये थे। वह देशीगण और कुंदकुंदान्वय के मुनिराट् थे। उन्होंने चन्द्रायण' आदि अनेक व्रत उपवास किए थे। उनके सत्संग से अनेक भव्यों ने अपने कर्मों का क्षय किया था। उनके उत्तराधिकारी इन्डोली के श्री रविचन्द्राचार्य हुए थे। उनके पश्चात् क्रमशः गुणसागर मुनिपति, गुणचन्द्र मुनीन्द्र, अभयनदि मुनीन्द्र और गणदीपक माघनंदी हुये थे। कल्याणकीर्ति आचार्य ने सिंहनन्द्याचार्य के तप स्थल पर जिनेन्द्रचैत्य निर्मापा था और विन्डुकुड ग्राम में शान्तिनाथ भ० की मूर्ति स्थापी थी। नं० ८ का शिलालेख विजयनगर सम्राट् कृष्णदेवराय के समय का है और

*विशेष के लिए "जैन सिद्धान्त-भास्कर" भा० ६ कि० २ पृ० ११० देखो।

×डा० कृष्णमाचार्लू ने 'इङ्गिणिमरण' को एक स्थान लिखा है, वह ठीक नहीं है। वह एक प्रकार का समाधिमरण है।

उसमे मंडारद तिम्यप्पय्य के दान का उल्लेख हैं। नं० ९ का शिलालेख चतुर्विंशतिजिन प्रतिमा के आसन पर अंकित है जो कोप्पल से उपलब्ध हुई हैं और नवाब सालारजंग के महल मे रक्खी हुई है। उसमे लिखा है कि रायराजगुरु मंडलाचार्य माघनन्दी सिद्धांत-चक्रवर्तो के समृद्धिशाली कोप्पणतीर्थ के निवासी बोप्पण और उनकी धर्मपत्नी मलउव्वे ने चौवीस तीर्थङ्करों की प्रतिमा निर्मापण कर के मादण दंडनायक द्वारा निर्मित वस्ति मे विराजमान की। नं० १० का लेख एक अन्य प्रतिमा जो पंचपरमेष्ठी की हैं और उपर्युक्त स्थान पर हैं, पाद आसन पर अंकित है। उसमे लिखा है सिद्धचक्रद नोंपि (व्रत) और श्रुतपंचमी नोंपि का पालन कर के एरमवरगे के कुलाग्रि-सेनवोव देवरण ने पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा निर्मापी थी। कहते हैं कि कोपण एक छोटी-सी पहाड़ी के पास वसा हुआ था और वहां ७७२ वसदि (मंदिर) थे। यहां होयूसल नरेश विष्णुवर्द्धन की रानी शांतल देवी ने भी एक जिन मंदिर बनवाया था, जिसको तमोली लक्खय्य ने दान दिया था। इस लेख मे अरसिय वसदि, तीर्थद बसदि और तिम्मव्वरसिय वसदि का उल्लेख है। ७वीं ८वी शताव्दी मे यहां जिन यात्रियों ने वंदना की थी, उनके नाम एक गुफा मे लिखे हुए हैं। निस्सन्देह कोपण दक्षिण भारत का एक प्रमुख तीर्थ और जैनकेन्द्र था। वहां एक आचार्य पट्ट था, जिसका उत्तराधिकारी आसपास के ग्रामों मे से योग्यतम जैनमुनि वनाया जाता था। उन आचार्यों द्वारा कोपण का महान् उपकार हुआ था+।

कोलार (कुवलाल) ५६ गंगवंशी राजाओं की प्राचीन राजधानी, जो पूर्वी मैसूर मे पालार नदी के तट पर है।

कोलिपाक ४०८ यहां के आदिनाथ प्रसिद्ध थे।

कोल्लापुर (कोल्हापुर) ४०, ४२२, ४७१ जैनों का प्राचीन केन्द्र है। वहां पुरातन जैनी किसान ३६००० की संख्या मे हैं। जैनियों का यहां विशेष प्रभाव था। यहां सिलाहार वंश के राजा जैनी थे। इसका अपरनाम क्षुल्लकपुर है। यहां का प्रसिद्ध अंवावाई मंदिर मूलतः जैनियों का है। लेख नं० ४० मे यहां के श्रीरूपनारायण जैन मंदिर का उल्लेख है। स्वयं कोल्हापुर के शिलालेख (शक १०६५) मे इस मंदिर के जीर्णोद्धार किये जाने का उल्लेख है। लेख नं० ४२२ में कोल्लापुर के पट्टाचार्य भट्टारक जिनसेन का ज़िक्र है। लेख नं० ४७१ से स्पष्ट है कि शान्तीश्वरवस्ति मे शान्तीश्वर भगवान् की प्रतिमा कोल्लापुर की सावन्तवसदि मे पट्टाधीश सागरनंदी द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी।

क्रमशः—

+मूल शिलालेखों के लिए "The Kannada Inscriptions of Kopbal" (Hyd Ar Series) No 12 देखिये।

जैन रामायणें

[लेखक—श्रीयुत प्रो० डी० एन० नरसिंहाचार्य, एम ए]

'रामायण' का विकास एक ही कवि के मस्तक की उपज है और 'महाभारत' एक से अधिक लेखकों के प्रयास का फल है। भारतीय साहित्य के इतिहास को जानने वाले यह जानते हैं। किन्तु 'रामायण' के प्रथम और अन्तिम परिच्छेद प्रक्षिप्त हैं। 'जैन रामायणों' का अध्ययन भी 'रामायण' के विकास वर्णन को बतलाने के लिए मनोरंजक है।

किसी राष्ट्र के प्रचलित गीतों का विकसित रूप ही काव्य होता है। वह एक ही दिमाग की उपज होती है। राम-कथा के गीत वाल्मीकिजी से पहले भी अवश्य प्रचलित कहे जा सकते हैं। उन्हीं गीतों के आधार से 'वाल्मीकि रामायण' रची गई प्रतीत होती है। वाल्मीकि के उपरान्त 'रामायण' का और भी विकास हुआ। सम्प्रदाय और मतमतान्तरों के वशवर्ती होकर भी राष्ट्र की एक कथा अनेक रूप धारण कर लेती है। ये रूप कालान्तर में स्वाधीन भी हो जाते हैं। 'जैन रामायण'—'अद्भुत रामायण' 'वशिष्ठ रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' के विषय में यही कहा जा सकता है। इस लेख में यही बताया गया है कि ई० प्रथम शताब्दि में परिपूर्ण हुई वाल्मीकि रामायण से निकल कर किस तरह जैन रामायणें विकसित हुई हैं। यह रामायण-साहित्य में एक नया प्रयास होगा*। जैनों की मान्यता के अनुसार 'जैन रामायण' १८वीं शताब्दी तक प्रचलित थी। 'रामकथावतार' (१७९७ ई०) के लेखक देवचन्द्र+ ने 'रामायण' का विकास तीर्थंकर आदिदेव द्वारा हुआ बताया है। इन प्रथम तीर्थंकर ने भरत महाराज को रामकथा सुनाई थी। गुरुपरम्परा से वह कथा प्रचलित रही और अन्त में अन्तिम तीर्थंकर महावीर को उपलब्ध हुई। म० महावीर ने वह रामकथा मगध के राजा श्रेणिक को सुनाई। तब से कूचि भट्टारक, नन्दिमुनि, कवि परमेष्ठी, रविषेण, वीरसेन, सिद्धसेन, पद्मनन्दी, गुणभद्र और सकलकीर्ति ने उस पर रचनायें रचीं। कन्नड भाषा में चामुण्डराय, नागचन्द्र, माघनन्दि सिद्धान्ती, कुमुदेन्दु, नयसेन आदि ने रामायण की रचना की थी। देवचन्द्र ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग में लिखा है कि उन्होंने गुणभद्राचार्य के 'त्रिषष्ठिलक्षणमहापुरुषपुराण' एवं अन्य जैन पुराणों के आधार से किन्हीं संदिग्ध स्थलों को स्पष्ट कर दिया है।

---

*प्रो० चक्रवर्ती ने 'जैनरामायण' पर एक लेख इससे पूर्व अंग्रेजी 'जैनगजट' में प्रकट कराया था—लेखक

जब रामकथा के गीत वाल्मीकि रामायण से पहले लोगों में प्रचलित थे तब यह कैसे माना जाय कि उन गीतों के आधार से नहीं बल्कि वाल्मीकि रामायण के आधार से जैन रामायण लिखी गई?
—अनुवादक

+Lives of Kannada Poets Vol III p. ? इन्हीं लेखक ने [illegible] का प्राचीन साहित्य की खोज में सहायता दी थी।

इस मान्यता का वह अंश कि रामकथा आदि तीर्थंकर ने बताई थी अनैतिहासिक समझना ठीक है। क्योंकि जैनपुराणानुसार रामकथा का अवतरण बीसवें तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतनाथ के तीर्थकाल में हुआ है। हां, महावीर जी के पश्चात् जो मान्यता देवचन्द्र ने बताई है, उसका आधार प्रायः ऐतिहासिक है, क्योंकि उल्लिखित कवियों में से किन्हीं की रचनायें उपलब्ध है। कूचि भट्टारक और नन्दिमुनि के विषय में अधिक नहीं जाना जाता, तो भी चामुंडराय (९७८ ई०) ने लिखा है कि प्रत्येक ने एक एक 'महापुराण' रचा था‡। पंप कवि (९४१ ई०) ने जिनकी प्रशंसा की है वह सभवतः उपर्युल्लिखित कवि परमेष्ठी थे। कहा जाता है कि कवि परमेष्ठी ने 'त्रेसठ' शलाका पुरुषों के चरित्र का परिचायक एक पुराण लिखा था*। चामुंडराय यह भी बताते है कि जिनसेन (७८३ ई०) ने अपना 'आदि पुराण' कवि परमेष्ठी के 'महापुराण' के आधार पर रचा था। अतः यह स्पष्ट है कि कवि परमेष्ठी सन् ७८३ ई० से पहले इस धरातल को सुशोभित करते थे। उनके पुराण में रामकथा अवश्य होना चाहिए क्योंकि ६३ शलाका पुरुषों मे राम-लक्ष्मण की भी गणना है। रविषेण प्रख्यात 'पद्मपुराण' अर्थात् 'महारामायण' के कर्त्ता हैं, जिसे उन्होंने सन् ६७८ ई० मे रचा था‡। वीरसेन और सिद्धसेन का परिचय अज्ञात है। पहले संभवतः वही वीरसेन हों जो जिनसेन के गुरु थे। दूसरे सिद्धसेन संभवतः वही हों जिनकी प्रतिभा की प्रशंसा चामुंडराय ने खूब ही की हैं+ पद्मनंदी का भी कुछ परिचय अप्राप्त है। प्रथम शताब्दी के कुंदकुंदाचार्य का अपर नाम भी पद्मनंदी था, परन्तु वह तो शायद यह पद्मनंदी नहीं हो सकते। जैनसाहित्य मे गुणभद्राचार्य का नाम प्रसिद्ध ही है। सकलकीर्ति नामक एक लेखक का अस्तित्व ईस्वी १५वी शताब्दी मे विदित है, किन्तु उन्होंने कोई 'जैन रामायण' लिखी हो इसका पता नहीं*। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि यहां किस सकलकीर्ति से अभिप्राय है। देवचन्द्र ने जिन कन्नड कवियों का उल्लेख किया है वे सर्वज्ञात हैं। हां, यह द्रष्टव्य है कि माघनन्दी और नयसेन की रची हुई रामायणें उपलब्ध नहीं हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि जैन साहित्यक इतिहास से उपर्युक्त मान्यता का समर्थन होता है। यद्यपि बहुत से ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है, फिर भी रविषेण और गुणभद्र की रचनायें अवशिष्ट हैं। मजे की बात यह है कि प्राकृतभाषा मे रची हुई रामायणों के लेखकों का उल्लेख इस मान्यता मे नही हुआ है। इन लेखकों मे विमलसूरि सर्व प्राचीन हैं। अन्य

‡चामुडरायपुराण, श्लोक २४

*Ibid verse 5

‡Hiralal's Catalogue, XXI

+ चामुडरायपुराण, श्लोक ४

*History of Indian Literature, II, 496, 592

प्राकृतभाषा में रामायण के लेखक हेमचन्द्र और चौमुह थ। सभव है कि देवचन्द्र इनसे परिचित न हों। जो हो, निस्सन्देह जैन रामायणों का बाहुल्य उल्लेखनीय है।

वाल्मीकि की 'रामायण' के प्रति इन जैनलेखकों का रुख क्या रहा है? इसको विमलसूरि और उनके निकटवर्ती रविषेण ने अपने आदर्श से स्पष्ट कर दिया है। विमलसूरि ने अपना 'पउमचरियं' महावीर निर्वाण के ५३० वर्ष बाद रचा था यह वह स्वयं कहते हैं। दूसरे शब्दों में उनकी यह रचना ईस्वी ३री व ४थी शताब्दी की है क्योंकि म० महावीर की निर्वाण तिथि ५२७ ई० पू० मानी जाती है। जैनसाहित्य के अपने वर्तमान ज्ञान के आधार से हम कह सकते हैं कि विमलसूरिजी पहले जैन महाकवि थे जिन्होंने वाल्मीकि 'रामायण' का निरीक्षण जैनधर्म और जैनाचार की दृष्टि से किया था। यह बात सम्राट् श्रेणिक के मुख से निरूपी गई है। श्रेणिक का मन प्राचीन रामायणों के सदिग्धस्थलों से द्विविधा में पड़ा हुआ था। उन्होंने म० महावीर के प्रमुख गणधर गौतम से उनका समाधान चाहा। श्रेणिक यों सोचने लगे कि 'राक्षसों में महान् बलवान की पराजय वानरों द्वारा कैसे हो सकती है? क्या यह अविश्वसनीय नहीं है कि कुम्भकर्ण साल के प्रथम छः महीनों तक बराबर बिना भूख प्यास की बाधा के पड़े सोते रहे—यहां तक कि उनके कानों के पास घोर शब्द किये जाने पर उनकी निद्रा भङ्ग नहीं होती थी? और उससे भी अधिक अविश्वसनीय यह कथन है कि सोकर उठते ही कुम्भकर्ण हाथी और भैंस निगल जाते थ? भला रावण और अन्य राक्षस जो जैनी थे वह कैसे मनुष्य का रक्त पी और मांस भक्षण कर सकते थे? आह! यह 'रामायण' तो असत्य, गन्दी और सदिग्ध है। अपनी शकाओं को निवृत्त करने के लिये ससार में आज अनेक ज्ञानी पुरुष हैं।" अतः श्रेणिक गौतम स्वामी के पास पहुचते हैं और उनके सम्मुख अपनी शङ्काओं को उपस्थित करते हैं। गौतमस्वामी इसी प्रसग में रामायण की कथा को निरूपते हैं। और कहते हैं 'श्रेणिक नृप! ध्यान से सुनो। मैं वही कहूंगा जिसे पहले केवली भगवान कह चुके हैं। रावण मांस भक्षक राक्षस नहीं है। दुष्ट और मूर्ख कवियों द्वारा कही गई सब ही बातें नितान्त असत्य हैं।"

यह कथन पौराणिक क्षेत्र का है, परन्तु इसमें अपना कुछ महत्त्व भी है। विमलसूरि जैसे त्यागी महात्मा जैनी को राक्षसों के भयानक दुराचार पूर्ण व्यवहार जैसे कि वाल्मीक ने कहा है, पूर्णतया अमानुषिक तथा क्षोभदायक प्रतीत हुए। उनकी विचारशक्ति पर एक प्रबल प्रहार हुआ। इतना होने पर भी वह अपने सहधर्मियों को वाल्मीक रामायण की तरह एक रामायण प्रदान करने के कार्य्य से दूर न रह सके क्योंकि रामायण उन दिनों इतनी ही प्रचलित हो चुकी थी जितनी कि आधुनिक काल में है। साधारण जनता का इस से रक्त मांस जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। लोगों के चरित्र पर इसका अत्यधिक उत्तम प्रभाव

पड़ता था जिसके लिये यह ग्रन्थ जगत विख्यात हो चुका था। इसीलिये प्रत्येक धर्मावलम्बियों ने इसको अपने धार्मिक ग्रन्थो तथा पाठ्य पुस्तकों मे स्थान दिया था। बौद्धधर्मानुयायियों ने ऐसा ही किया प्रतीत होता है। "दशरथ जातक" मे रामायण का एक भाग ले लिया गया है। उस कथा मे रावण का नाम भी नही है। बौद्धों की दृष्टिकोण में रामायण का महत्त्व उसके प्रमुख पात्र रामचन्द्र के भोलेभाले स्वभाव त्यागभाव तथा कर्त्तव्य परायणता के ही कारण था। उन्होंने केवल सदाचार पर ध्यान दिया जो कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म का एक प्रधान अंग था। वह यहां तक विश्वास करते हैं कि बुद्ध ने ही इससे प्रथम राम के रूप मे जन्म लिया था। रावण के चरित्र को अपने धर्मानुकूल बनाने में उनको बड़ी कठिनता उपस्थित हुई इसीलिये वह उसे अपने इस ग्रन्थ में स्थान न दे सके। परन्तु कुछ शताब्दियों के उपरान्त लंकावतार के रावण को जो ४४३ ई० पू० मे लिखा गया था, एक बौद्ध महायान का रूप दिया गया है, जो कि बुद्ध जी का एक अनुयायी धर्मात्मा था। मगर इसमें उसके सीता जी के अनुराग का कथन पूर्णरूप मे उड़ा दिया गया है। कहानियों के रूप मे यह बौद्धों का कथन सरसता से बहुत दूर है।

जैनों का दृष्टिकोण बड़ा मनोरंजक है। यह सत्य है कि जैन धर्म के पवित्र ग्रंथ प्रायः शुष्क भाषा मे लिखे गये हैं और जहां तक मुझको ज्ञान है उनमे साधारण सांसारिक बातों का वर्णन जैसा कि बहुत सी बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में मिलता है, नहीं है। जैन रामायण इनसे विपरीत है और जैनधर्मावलम्बियों की महान उदारता का दिग्दर्शन कराती है। जैनशास्त्र-कार रावण के चरित्र को मानुषिक तथा अति उच्च सिद्ध करने में वहां तक सफलीभूत हुए जहां तक बौद्धो का ध्यान भी न पहुच सका। यह वर्णन कि यह परिवर्तन कैसे हुआ उल्लेखनीय है।

जैनधर्म अपने को सार्वभौम धर्म सिद्ध करता है। जैनधर्म कहता है कि मनुष्य ही नहीं तिर्यंच और नारकी तक पक्के जैनी हो सकते है अगर वह इस धर्म में श्रद्धान करें। चाहे जैसा दुष्ट तथा तिरस्कृत पुरुष क्यो न हो यदि वह उचित समय पर कर्म बंधनविच्छेद करना प्रारंभ करता है तो वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होगा। आत्मा की जन्ममरणयात्रा मे कर्म का प्रधानतया हाथ है इस मतानुसार रावण किसी भी प्रकार घृणा अथवा तिरस्कार का पात्र नही है। इसके प्रतिकूल वह हमारी सहानुभूति प्राप्त करने योग्य है। विमल सूरि ने भी अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। प्रारम्भ मे ही उन्होंने कह दिया है कि रावण दुष्ट प्रकृति वाला राक्षस नही था। वाल्मीकि के अनुसार वह एक राक्षस अनार्य्य तथा मनुष्य व देवताओ का प्रबल शत्रु था। उनके मतानुसार उस के कालिमायुक्त-चरित्र मे कोई भी उज्ज्वल स्थान नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह संसार के सम्पूर्ण दुराचारों

का पुतला था। परन्तु विमलसूरि ने एक अलहदा ढङ्ग से उसका चरित्र चित्रण किया है जो कि पूर्णतया मानुषिक है। मनुष्य की प्रकृति पूर्णतया मानुषिक या अमानुषिक नहीं हो सकती। मनुष्यप्रकृति सदाचार व दुराचार का मिश्रण होती है। इन दो में से किसी एक का दूसरे से बढ़ जाना मनुष्य को भला या बुरा बना देती है। इसलिये वाल्मीकि द्वारा उपस्थित किया गया रावण का चित्र अतिशयोक्तियों से परिपूर्ण है। यह एक आर्य्य की एक अनार्य्य की ओर घृणा प्रदर्शित करता है। विमलसूरि ने इस अन्याय को जान कर एक ही वार में, (लेखनी द्वारा ही नहीं वरन् विचारों द्वारा भी) उसको मनुष्य बना दिया। राक्षस का भद्दा बाह्यरूप क्षण भर में एक श्याम घटा के समान विलीन हो गया। वह रूप बड़ा सुन्दर हो गया और अब रावण सर्वगुण सम्पन्न बन गया।

विमलसूरि उसको इस प्रकार वर्णन करते हैं। "शरीर गेहुआ रत्न के समान कान्तिवान, मुख पूर्णविकसित कमलस्वरूप, दीर्घकाय वक्षस्थल, बलवान् लम्बी भुजायें पतली कमर, सिंह के समान पुट्ठे हाथी के समान रानें, ग्राह के समान पैर, रत्नजटित नवीन वस्त्रों से विभूषित यह रावण संसार के पुरुषों के राजा इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान प्रतीत होता था।" वास्तव में यह रूप एक हद तक मानने योग्य है। उसके असाधारण शिर तथा भुजायें विलीन हो जाती हैं और वह एक साधारण मनुष्य का शरीर धारण करता है। विमलसूरि के जादू भरे स्पर्श से न केवल रावण को मनुष्यरूप प्राप्त हो गया वरन् मनुष्य हृदय भी प्राप्त हुआ। उसके हृदय में कोमल एवं सुन्दर विचारों का वास हो गया। 'पउम चरिय" में बहुत से उदाहरण हैं जिन से रावण के हृदय की उच्चता सिद्ध होती है। एकाध उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं —

एक बार त्रैलोक्य विजय में संलग्न रावण ने वरुण को परास्त कर के बन्दी बनाया। वरुण के प्रजागण शोकातुर होकर विलख विलख रो रहे थे। रावण ने उनका विलाप सुना और दयार्द्र होकर वरुण को स्वतन्त्रता तथा उसका राज्य सौंप दिया। उसके जीवन की अंतिम घड़ियों में जब कि मृत्यु और अपमान उसकी शोकाकुल आत्मा के निकट मँडरा रहे थे, वह पछताता है उस दुष्कार्य्य के लिये जो उसने सीता के साथ उसको उसके पति से दूर रखने तथा दुःख आदि देने में किया था। वह स्वयं अपने से घृणा करता है, विलाप करता है, अपनी माता से बिछुड़े हुए बालक के समान बेचारी सीता के दुखों पर रोता है। कविताद्वारा विमल सूरि रावण को सर्वोच्च मनुष्य से भी उच्च मानने के लिये हमें बाध्य करने के प्रयास में पूर्ण सफलीभूत हुए हैं।

कवि एक पग आगे और बढ़ता है रावण को जैनधर्मानुयायी बनाता है। इसका अर्थ यह है कि रावण हिंसा से दूर अथवा किसी जीवधारी को दुःख अथवा क्षति पहुंचाने से दूर

रहा है। रावण की लड़ाइयों के वर्णन मे कवि ने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है। रावण सब राजाओं को मार कर तीन खण्ड का चक्रवर्ती राजा नहीं बनता है केवल उनको हराकर और दासता स्वीकार कराकर छोड़ देता है। शायद ही कोई राजा उसके हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ हो। वह अहिंसा के सिद्धात का विशेष ध्यान रखता था। एक बार राजपुर का शासक मारुत बलि दे रहा था। जब रावण ने सुना तो वह वहाँ गया। उसको मारने के विचार से नहीं वरन् इस दुष्कर्म को रोकने के लिये। यह कार्य्य उचित ही था क्योंकि बलि मे प्रत्यक्ष रूप मे हिंसा होती है। वाल्मीकि के रावण के विपरीत जो कि साधुओं का शत्रु था, विमलसूरि का रावण जैन मुनियों का अनन्य भक्त था। वह उनको साष्टांग प्रणाम करता है और उनसे धर्मश्रवण करता है। एक बार वह श्रीमुनि अनन्तवीर्य केवली के समीप गया और उनका धार्मिक व्याख्यान श्रवण किया। वह हरिषेण की पवित्र कथा सुनकर बहुत हर्षित हुआ। तीन खण्ड की विजय के पश्चात् उसने जैन तीर्थंकरों के मंदिरों की स्थापना के द्वारा जैनधर्म का प्रचार किया। इस प्रकार विमल सूरि ने उसको जैनधर्मावलम्बी बना कर उसका आचरण अति उच्च कर दिया है।

इन बातों पर ध्यान देने के पश्चात् विमलसूरि का यह कथन कि रावण एक श्रेष्ठ तथा संपूर्ण राज्यगुणविभूषित राजा था पाठकों को आश्चर्य में नहीं डाल सकता एक राजा की अपेक्षा वह शक्तिवान्, महान् तथा अद्वितीय शासक था। विमल सूरि रावण को एक महान् राजा के समान ऐश्वर्यवान् वर्णन करते हैं। अपनी विजय यात्रा समाप्त करने के पश्चात् रावण अतुल सम्पत्ति, कीर्त्ति तथा वैभव का स्वामी बन गया, अनेक विद्याधर उसके दास हो गये। तीन खंड मे उसका कोई भी शत्रु नहीं रहा. उसकी राजधानी के नागरिक उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। जिस देश मे उसका शुभागमन होता है वह देश स्वर्ग के समान धन, धान्य तथा रत्न से पूरित हो जाता है। वहाँ पर फिर अकाल का भय नहीं रहता। उस देश में पुण्य का वास हो जाता। हरी-भरी पर्वतीय झरनों सहित, 'कुटज' पुष्पो से सुशोभित भूमि एक नवयौवना सुन्दरी के अनुरूप दशानन के शुभागमन पर मधुर मुस्कान से उसका स्वागत करती। पूर्वजन्म के शुभ कर्म्मों के परिणाम स्वरूप रावण इन सुख, कीर्त्ति तथा ऐश्वर्य को भोगता। विमल सूरि एक शब्द मे ही रावण की सपूर्ण महत्ताओं का वर्णन करते हैं, वह शब्द है 'प्रवरपुरुष' अर्थात सर्व श्रेष्ठ पुरुष।

मैने विमलसूरि के रावण के आचार के कथानक का संक्षिप्त परिचय दिया है। उन्होने उसे सर्वश्रेष्ठ पुरुष, एक जैनी तथा पूर्ण राजा वर्णन किया है। परन्तु ऐसा शक्तिवान् राजा भी मृत्यु को प्राप्त होना चाहिये। यहाँ पर यह सिद्धात आता है। विमल सूरि उसको प्रति वासुदेव (प्रतिनारायण) त्रेसठ शलाकाधारी पुरुषों मे से एक बताते हैं। उसक मृत्यु अपने

शत्रु वसुदेव के ही द्वारा होनी अनिवार्य्य है। उनके मध्य शत्रुता का भी कोई कारण होना आवश्यक है। अस्तु, रावण द्वारा सीता की चोरी ही उसके विनाश का कारण बनती है। यह बात रावण को नारद मुनि के द्वारा पूर्णतया ज्ञात हो चुकी थी। यह भविष्यवाणी थी कि रावण की मृत्यु राजा जनक की पुत्री सीता के कारण राजा दशरथ के पुत्रों के द्वारा होगी। रावण ने दशरथ और जनक को मारकर ऐसी मृत्यु से बचना चाहा मगर दुर्भाग्यवश वह दोनों विभीषण के हाथ से निकल गये और विभीषण उनकी मोम की बनी हुई मूर्त्तियों को ही वास्तविक दशरथ व जनक जान काट कर चला आया।

इसी प्रसंग में हमको एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना है। रावण की मृत्यु का कारण उसका सीता के प्रति अनुचित अनुराग था। विमल सूरि ने रावण के चरित्र चित्रण के द्वारा ब्रह्मचर्य्य रहित जीवन के भयानक विनाशकारी परिणाम को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहा। ब्रह्मचर्य्य जैनियों के पाँच व्रतों में से एक व्रत है। चाहे जैसा महान् व चरित्रवान् पुरुष हो यदि किसी समय वह ब्रह्मचर्य्य पथ से डिग जाता है तो उसकी मृत्यु बड़े दुःख व घोर अपमान सहित होती है। यदि कोई मनुष्य स्वभाव से ही दुराचारी हो तो उसकी दुर्दशा में किसी प्रकार की शंका करना घोर मूर्खता है, इसलिए विमलसूरि सीता से मिलाप के पूर्व तक रावण के ब्रह्मचर्य्य का ध्यान रखते हैं। मन्दोदरी के अतिरिक्त रावण के अनेक विवाहिता रानियाँ थी। अपनी दिग्विजय की यात्रा में एक बार नलकूबर की राजधानी में उसका आगमन हुआ। नलकूबर की पत्नी उपरम्भा जो कि अपने पति से प्रसन्न नहीं थी रावण से लड़कपन से ही प्रेम करती थी। जब उसको यह ज्ञात हुआ कि रावण उसके इतने समीप है तो उसने अपने रूपद्वारा रावण को अपने वश में करना चाहा, परन्तु रावण उसके जाल में न फँसा। इसके अतिरिक्त उसने उपरम्भा को समझाया कि उसको अमूल्य शीलरत्न की रक्षा करना चाहिए और अपने कुल की मर्यादा नहीं खोना चाहिये। रावण इस परीक्षा में पूर्ण सफल रहा। रावण को अपने ब्रह्मचर्य्य में किसी प्रकार की दुर्बलता का आभास मिला और इसलिये उसने अनन्तवीर्य्य के निकट एक व्रत पराङ्गनाविरत ग्रहण किया। और नारी रूपी शत्रु से अपनी रक्षा करने के लिये एक सुदृढ़ दुर्ग की स्थापना की। उसका सीता पर आसक्त होना उसकी दुर्बलता का द्योतक है और इस दुर्बलता का दंड उसे अच्छी तरह भोगना पड़ा। वह पूर्ण त्यागी न था।

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि विमल सूरि का वाल्मीकि कृत रामायण के रावण के चरित्र को जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप चित्रित करना एक अनोखी सूझ है। यूनानी विद्वान् अरिस्टू का यह सिद्धान्त है कि दुःखान्त कथा के नायक का अद्वितीय त्याग और सत्यप्रियता को प्रधानता न देना चाहिये। परन्तु उस पर आई हुई विपत्ति का कारण उसके पाप न बताकर

दृष्टि की त्रुटि होना बताना चाहिये।' यह विमल सूरि के रावण के लिए पूर्णतया उचित सिद्ध होता है। विमलसूरि के कथन का महत्त्व वहां पर बढ़ जाता है जब कि रावण की दुःखद घटना उनके हृदय मे दया का संचार करती है। एक कवि व कलाकार की अपेक्षा विमलसूरि की निपुणता रावण के चरित्र चित्रण मे पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। रावण को उन्होंने अपनी कथा का प्रधान नायक माना है यद्यपि वह अपनी कथा का नाम 'पउमचरिय' रखते है जो कि रामचन्द्रजी का उपनाम है। रामचन्द्र की अपेक्षा रावण हमारा ध्यान अधिक आकर्षित करता है और हमारे मस्तिष्क मे सदा के लिये वास कर जाता है। रावण का चरित्र मनुष्योपयोगी बातों से परिपूर्ण है।

मैं विमल सूरि के वाल्मीकि रामायण के आधार पर लिखने का कारण और इस आधार पर रची हुई कविता की सुन्दरता पर एक संक्षिप्त प्रकाश डाल चुका हूं। उन्होंने हमको एक नवीन रावण दिया है जिसके साथ हमको सहानुभूति हो सकती है। उनका अदम्य साहस एक नई रचना को जन्म देता है, उनका कार्य्य एक कवि की विचारशक्ति की उड़ान की अपेक्षा कवियो के लिए एक उदाहरण है। उन्होंने बाद के कवियों के लिए एक मानचित्र छोड़ दिया जिसके आधार पर कि वह अन्य रचनाये रच सकें। इस प्रकार उन्होंने एक नवीन 'पद्धति' को जन्म दिया। प्राकृत भाषा के लेखकों में जिन्होंने श्रीविमल सूरि का अनुसरण किया है, उनमे 'पउमचरिय' के रचयिता 'चौमुंह' वर्णन करने योग्य हैं। दशम शताब्दी मे रचित 'हरिवंश पुराण' ग्रंथ के रचयिता धवल ने उनके बाबत् कुछ वर्णन किया है। उसी नाम का एक ग्रथ के १२००० श्लोकों का एक भाग स्वयंभू देव ने रचा है, वह भाग उपलब्ध है। वह अपनी रचना समाप्त न कर सके अतः त्रिभुवन स्वयंभू नामधारी एक दूसरे लेखक द्वारा वह पूर्ण हुआ। परन्तु वह दूसरा भाग जो इस प्रकार पूर्ण हुआ अब उपलब्ध नही है। ग्वालियर के यश कीर्त्ति भट्टारक ने उपरांत उसको पूरा किया है। स्वयंभू देव का अस्तित्वकाल सप्तम व दशम शताब्दी के मध्य है। मैं इन दोनों ग्रंथो को प्राप्त करने में असमर्थ रहा। यद्यपि मेरा इन ग्रन्थो को विमल सूरि पद्धति के अनुसार कहना केवल अनुमान पर है परन्तु इस आधार पर कि उनके नाम एक से हैं और उनमे एक ग्रन्थ का उपलब्ध भाग विमल सूरि की रचना से मिलता हैं इस कल्पना को सत्य सिद्ध करता है।

विमलसूरि के अनुसरण करने वालों मे सर्व प्राचीन संस्कृत रचनाकार 'पद्मपुराण' अथवा 'महा रामायण, के रचियता रविषेण है। उन्होंने विमलसूरि की रामायण को एक वृहत् रूप दे दिया है। वर्णित अध्यायों का अधिक संख्या मे होने से ग्रन्थ को बढ़ा दिया गया है। उनका कार्य्य सरल और सीधा है। कही २ पर उनके श्लोक विमलसूरि के श्लोकों का केवल अनुवाद रूप ही मिलते हैं। उनकी रचना विमलसूरि की रचना से पूर्णतया मिलती है।

हेमचन्द्र की रामायण का नाम दूसरे नम्बर पर आता है जो विद्वानों की पूर्वपरिचित है। देवविजय गणी ने एक रामचरित की संस्कृत गद्य में रचना की। उन्होंने हेमचन्द्र का अनुसरण किया है। कन्नड साहित्य में विमलसूरि के अनुयायियों में जैन रामायणों के सम्बन्ध में नागचन्द्र का नाम प्रमुख है, जिनका कि दूसरा नाम अभिनव पम्प है। उन्होंने कथा की रचना में बड़ी योग्यता का परिचय दिया है और अनावश्यक बातों में काट छाँट कर के उसको अपनी रामायण से अधिक सुन्दर बना दिया है। उनकी शैली सरस और सरल है। उसने कन्नड भाषा की अन्य जैन रामायणों के लिए एक मानचित्र तय्यार कर दिया है। उनमें कुमुदेन्दु का नाम मुख्य है, जिसके नाम पर ही उसकी रचना का नाम कुमुदेन्दु रामायण रख दिया गया है। यह ग्रन्थ तेरहवीं शताब्दी में रचा गया था। यह सुपरिचित षट्पद छन्दों में रचा गया है। इनकी रचना में इस छन्द के छहों प्रकार के छन्द पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रगले छन्द हैं। उसने नागचन्द्र की उपमाओं और अलंकारों का दुबारा अपनी रामायण में उपयोग किया है, जिससे सिद्ध होता है कि उन्होंने नागचन्द्र का अनुसरण किया है। देवप्पा ने १५२५ ई० में साँगत्य छन्द में रामविजय चरित की रचना की है। देवचन्द्र ने जिनके बाबत् अभी वर्णन हो चुका है अपनी रचना रामकथावतार में नागचन्द्र के बहुत से छन्दों को शामिल कर लिया है। इसके बाद चन्द्रसागर वर्णी ने जैन रामायण की रचना भामिनि षट्पद छन्दों में उन्नीसवीं शताब्दी में किया है।

विमलसूरि के अनुसरण करने वालों का शिजरा निम्न प्रकार है।

पउमचरिय
(विमलसूरि)

प्राकृत	संस्कृत	कन्नड
(१) पउमचरिय (चौमुह)	१ पद्मपुराण (रविषेण)	१ पम्प रामायण (नागचन्द)
(२) पउमचरिय { स्वयम्भूदेव, त्रिभुवन स्वयम्भू, यश कीर्ति भट्टारक }	२ जैन रामायण हेमचन्द्र	२ कुमुदेन्दु रामायण (कुमुदेन्दु)
	३ रामचरित (देवविजयगणी)	३ राम विजय चरित (देवप्प)
		४ रामकथावतार (देवचन्द)
		५ जिनरामायण (चन्द्रसागर वर्णी)

विमलसूरि और वाल्मीकि रामायण की कुछ बातें जिनमे कि एक दूसरे मे बहुत अन्तर पड़ गया है अब यहाँ दी जाती हैं। 'पउमचरिय' का सार संक्षिप्त मे वही हैं जो वाल्मीकि रामायण का है। शम्भूक एक नीच गोत्र का मनुष्य था जो कि एक साधु का रूप धारण किए था। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड मे बताया गया है कि उसकी मृत्यु राम द्वारा हुई। विमलसूरि इस घटना को बड़ी बुद्धिमत्ता से एक नई प्रकार से वर्णन करते हैं। इनकी रामायण मे शम्भूक चन्द्रनखा का पुत्र बताया गया है। चन्द्रनखा रावण की बहिन और खर की स्त्री थी। लक्ष्मण भ्रमणावस्था मे एक बाँस की झाड़ी देखते हैं। उसमे एक तलवार फूलों से पूजी हुई घुसी हुई है। लक्ष्मण इसकी धार की परीक्षा करने के लिए बाँसों पर एक तलवार का भरपूर हाथ मारते हैं। एक ही हाथ मे बाँस कट पड़ते हैं। उन बाँसों के साथ एक लड़के का कटा हुआ सिर देखते हैं। यह लड़का शम्भूक था। लक्ष्मण अपने से अजान मे हुई भूल के लिए पश्चात्ताप करते हैं। कला की अपेक्षा विमलसूरि का यह कल्पना कार्य्य सराहनीय है। 'पउमचरिय' के अनुसार सुग्रीव और हनुमान् वानर वंशी लोगों के शासक थे। रावण को कर दिया करते थे। हनुमान् वरुण के विरुद्ध लड़े गये युद्ध मे उसकी सहायता करते हैं। राम और लक्ष्मण के यहाँ कई व्याह हुए हैं जिससे राम का सीता के प्रति अथाह प्रेम प्रकट नही होता। अत यह बात प्रशंसा योग्य नही है। यह वासुदेव लक्ष्मण थे जिन्होने रावण को मारा था। रामचन्द्र उसी जन्म वा देह से मोक्षगामी थे। अतः वह हिंसाकर्म्म कर के अपने को नरक मे क्योंकर डाल सकते थे। लक्ष्मण रावण को मारने के कारण नरक गये। सीता को प्रभामंडल नाम का एक भाई था जिसने कि बड़े २ साहसोचित कार्य्य किए है। अन्तर कहीं कही पर मिलता है। इसकी कथा वही है जो वाल्मीकि रामायण की है। अत यह कहा जा सकता है कि विमलसूरि का स्कूल वाल्मीकि का स्कूल है। यह स्कूल ही अधिक ख्याति प्राप्त कर चुका हैं क्योंकि रावण का चरित्र जो इस कथा मे अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है मनुष्य के मस्तिष्क के लिए बड़ा रुचिकर हैं।

अब मैं जैन रामायण की एक दूसरी शाखा का वर्णन करूँगा। चूंकि मैं गुणभद्राचार्य से प्रथम के किसी भी रामायण के रचियता को नहीं जानता, अतः इस शाखा को उन्ही के नाम से पुकारूँगा। गुणभद्र ने अपनी रामायण को श्रीमुनिसुव्रत नाथ जिन के जीवनचरित्र, उत्तर पुराण के ६८ वें पाठ मे एक पूरक कथा की तरह वर्णन किया है। उस कथा का ढाँचा निम्न प्रकार है।

रत्नपुर के राजा प्रजापति को चन्द्रचूड़ नामधारी पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई जिसके मित्र का नाम विजय था। उनके कुबेर की कन्या के साथ बलात्कार करने के प्रयत्न के कारण उनको देश

निकाला दिया जाता है। वह एक पहाड़ी पर छोड़ दिये गये। उस पर एक साधु रहते थे। वह साधु के पास बड़े आदर भाव के साथ जाते हैं और मुनिव्रत धारण करते हैं। वह मुनि भविष्यवाणी करते हैं कि तुम तीन भवों के पश्चात् अष्टम वासुदेव व बलभद्र होगे। वह सानत्कुमार स्वर्ग में जाकर कनकचूल तथा मचूल नाम के देव होते हैं। वहाँ से फिर वह काशी राज्य के शासक दशरथ की राजधानी वाराणसीपुर में राजा दशरथ के यहाँ राम और लक्ष्मण नाम से जन्म धारण करते हैं। इनके जन्म के पश्चात् वह साकेतपुर को अपनी राजधानी बना लेते हैं। यहाँ पर भरत और शत्रुघ्न उत्पन्न होते हैं। राजा जनक औ उनकी स्त्री वसुधा को एक लड़की मिलती है जिसका नाम वह सीता रखते हैं। एकबार राजा जनक ने होम करने का विचार किया मगर रावण के भय से वह ऐसा न कर सके। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि जो कोई भी उनकी बलि यज्ञ करने में रावण के विरुद्ध सहायता करेगा वही सीता को ब्याहेगा। यहाँ पर तमाम बलियज्ञों के पापमय परिणामों के विरुद्ध एक लम्बा वर्णन है।

उपरान्त रावण का जन्मकथा वर्णित है। अपने तीसरे पूर्व भव में वह सार समुच्चय नाम के देश में नरदेव नामक पुरुष था। वह मृत्यु को प्राप्त होकर सौधर्मकल्प में देव हुआ। वह देव चय कर के लंका के राजा पुलस्त्य की रानी मेघश्री का पुत्र रावण हुआ। एकदा रावण की भेंट मणिमती नामक साध्वी से हुई जो तपस्या कर रही थी। रावण ने उसे चलित करने की कोशिश की। मणिमती को इस पर क्रोध आ गया और उसने निदान बांधा कि वह रावण की पुत्री होकर उससे अपना बदला चुकायगी। वह मरी और मंदोदरी के गर्भ से रावण के पुत्री हुई। उसके जन्म समय अनेक अपशकुन हुए। इसलिए ही उसे एकान्त में मिथिला के पास छोड़वा दिया गया। जनक यज्ञ करने के लिए भूमि ढूंढ रहे थे। वह कन्या उन्हें मिल गई। उन्होंने उसे वसुधादेवी के सिपुर्द कर दिया और उसका नाम सीता रख दिया। जनक के बुलाने पर राम मिथिला गए। जनक ने प्रसन्न हो सीता का ब्याह राम से कर दिया। राम साकेत वापस आए और कुछ दिनों बाद लक्ष्मण और सीता को लेकर वाराणसी में आकर राज्य शासन करने लगे। दशरथ को यह विछोह असह्य हुआ, परन्तु राम ने एक नृप का कर्तव्य समझाकर उन्हें सतोषित किया। नारद महाराज रावण से सीता के सौन्दर्य की तारीफ करते हैं। रावण सीता के रूप पर मोहित होता है और अपनी बहिन सूर्पणखा को सीता की शीलपरीक्षा के लिए भेजता है। वह हताश होकर लौटती है। इस पर रावण जाता है। वह वाराणसी की चित्रकूटवाटिका में पहुंचता है, जहां राम और सीता क्रीड़ा कर रहे थे। रावण अपनी निगा से मारीच का रूप एक सुन्दर हिरण में पलटता है। सीता हिरण पर मोहित होती है। राम हिरण

पकड़ने जाते हैं और दूर निकल जाते हैं। उधर रावण राम का रूप रख कर सीता के पास आता है और उसे लिवा ले जाता है। लंका पहुंच कर रावण सीता को लुभाने की कोशिश करता है, परन्तु सीता अनशन गाड़ लेती है। राम व लक्ष्मण व्यर्थ सीता को ढूंढ़ते हैं। दशरथ के दुःस्वप्न से उन्हें पता चलता है कि रावण से सीता को कष्ट पहुंचा है। वे वालि, सुग्रीव और आञ्जनेय से मिलते हैं। वालि की मृत्यु लक्ष्मण के हाथ से होती है। आञ्जनेय सीता के समाचार लाते हैं। मन्दोदरी सीता को पहचानती है कि यह मेरी पुत्री है और रावण से कहती है कि उन्हें राम को लौटा दें। युद्ध अनिवार्य होता है। आञ्जनेय पुनः लंका जाते हैं और विभीषण को राम के पक्ष मे कर आते हैं। वह लंका जला आते हैं; परन्तु रावण आदित्य गिरि पर विद्यासिद्ध करता है। युद्ध में रावण मायामयी सीता का सिर काटता है, जिससे राम शोकग्रस्त होते हैं। विभीषण सान्त्वना देते हैं। लक्ष्मण के चक्र से रावण की मृत्यु होती है। वाराणसी आकर राम मुनिपद धारण कर के केवली होते हैं। लक्ष्मण रावण की हत्या के पाप से पङ्कप्रभा नरक मे जाते हैं।

संक्षेपतः गुणभद्राचार्य के अनुसार राम-कथा का यह वर्णन है। उन्हीं के अनुरूप प्राकृत भाषा मे भी कोई रामायण हो, इसका पता नहीं। पुष्पदन्त का 'तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकार' 'उत्तरपुराण' के आधार पर रचा गया है। सम्भवतः उसमे यही रामकथा हो। संस्कृतभाषा में श्रीकृष्ण रचित (सन् १५२८ ई०) 'पुण्यचन्द्रोदयपुराण' है जिसमें यही रामकथा है। कन्नड भाषा मे सर्वप्राचीन रामकथा चामुंडराय के 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष पुराण' मे है जिसकी रचना सन् ९७८ ई० में हुई थी। वह गुणभद्राचार्य के वर्णनानुकूल है। इसके पश्चात् नागराजकृत 'पुण्याश्रव कथासार' (सन् १३३१ ई०) है। बंधुवर्म के 'जीव-संबोधन' (१२०० ई०) मे भी ऐसी ही रामकथा है। यह श्रेणी अब यों समझिये :—

गुणभद्र की राम कथा विमलसूरि के वर्णन से विभिन्न है। इसमे सीता को रावण की पुत्री बताया है। कई एक रामकथाओं मे सीता रावण की पुत्री कही गई है। (देखो हिस्ट्री

ऑफ इण्डियन लिट्रेचर भा० २ पृ० ४९४) किन्तु गुणभद्र की रामकथा का आधार क्या है? इसका ठीक पता नहीं चलता। शायद 'अद्भुत रामायण' अथवा 'दशरथ जातक' का प्रभाव उन पर पड़ा हो। मारीच का हिरणरूप होने का वर्णन ठीक वाल्मीकि की तरह है। अत उनका आधार कोई एक विशेष नहीं कहा जा सकता—उन्होंने सब ही जनश्रुतियों से कुछ न कुछ ग्रहण किया प्रतीत होता है। (?) हाँ, गुणभद्राचार्य और विमलसूरि इस विषय में एकमत है कि वैदिक यज्ञों का निषेध करें और हरिषेण की कथा लिखें। वह कला की दृष्टि से हेय है। इसीलिये उसका कम प्रचार हुआ है।

भारतीय साहित्य म अन्य रामायणों पर जैन रामायणा का प्रभाव अवश्य पड़ा है। श्री डी० सी० सेन बंगाली रामायणों पर इस जैन प्रभाव को स्वीकारते हैं। डॉ० टॉमस सा० ने एक तिब्बतीय 'रामायण' का विशेष वर्णन लिखा है। इस रामायण की प्रतियां चीनी तुर्किस्तान से मिली थी और लगभग सन् ७०० –९०० ई० की हैं। वे स्वतन्त्र रचनायें हैं। उन पर जैनों का प्रभाव स्पष्ट है। विमलसूरि ने रावण के पिता का नाम रयनासव (रत्नास्रव) लिखा है। तिब्बतीय रामायण में भी वही नाम है। इनमें सीता को रावण की पुत्री गुणभद्र के अनुसार ही लिखा है। कनडी की अन्य रामायणों में जैन प्रभाव नहीं दिखता।

साराशत यह स्पष्ट है कि जैन रामायण की वर्णनशैली की दो भिन्न श्रेणियां है, जिनका एक दूसरे से गहन मतभेद है। विमलसूरि ने वाल्मीकि रामायण' का अनुसरण किया प्रतीत होता है—जबकि गुणभद्राचार्य का कोई एक केन्द्रीभूत आधार नहीं था। विमलसूरि की रचना कलामय है जबकि दूसरी कथा मात्र कथा है। यह स्पष्ट है कि 'जैन रामायणों' का 'रामायणों' के अध्ययन में एक विशेष स्थान है।

—अनुवादक नेमिचन्द जैन, अलीगंज।

'रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी, लंदन में जैन ग्रन्थ'

[लेखक—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

हमारे ख़याल मे जैनियो मे शायद ही आजतक किसी विद्वान या जैनसंस्था ने अपने प्राचीन ग्रन्थों की शोध का सतत प्रयत्न किया हो, स्थान-स्थान पर घूमकर शास्त्रभंडारों की सार-संभाल की हो और उनकी सूचियाँ बनाई हों। वैसे अनियमित रूप में 'जैन सिद्धान्त भवन, आरा' और 'ऐलक पन्नालाल सरस्वती भंडार, बम्बई' आदि संस्थाओं ने ग्रन्थ संग्रह का कार्य अवश्य किया है, परन्तु वह कार्य सेर में पोनी के बराबर भी नहीं है। आज हमें यह भी पता नही है कि हमारे घर में क्या है? हमारे शास्त्रभंडारों में कितने अमूल्य ग्रन्थरत्न छुपे पडे हैं? आज सारे संसार में हमारी साहित्य रचनाओं की संख्या कितनी और उनका साहित्यक क्षेत्र में क्या स्थान है? हम जैनियों के लिये यह लज्जा का स्थल है कि हमने अपने उपलब्ध साहित्य की सूची भी तैयार नहीं कर पायी है! प्रत्येक जैन-मंदिर मे प्रतिदिन हम जिनवाणी की पूजा-अर्चा करते हैं, परन्तु उसकी तरफ से बेखबर हैं कि वह है क्या और कहाँ और कितनी? अपनी माता की जो सारसंभाल नहीं करता और उसे उन्नत नही रखता उसे कौन सपूत कहेगा? यदि कोई जैनी जिनवाणी को माता कहता है तो वह अपने हृदय से पूछे कि उसने अब तक अपनी 'माँ' के लिये क्या किया है? और वह प्रण करे कि मै अपनी 'माँ' का जीवन सुरक्षित रखने के लिये अमुक रूप में कार्य करूंगा। जब प्रत्येक जैनी अपने कर्तव्य को पहचानेगा और जिनवाणी को सच्ची सेवा करने के लिये बद्धपरिकर होगा तो जिनवाणी माता का सुखद-प्रकाश चहुं ओर छिटकता दिखाई पड़ेगा। इस दिशा में हम यूरुपीय विद्वानों की कार्यतत्परता की सराहना किये बिना नही रह सकते। वह हमारे अमूल्य ग्रन्थ रत्नो को सग्रहीत कर के पुस्तकालयों में सुरक्षित कर गये हैं—अनेकानेक शास्त्रभंडारों की उन विद्वानों ने शोध की है और कई अप्राप्त ग्रन्थों का उन्होंने पता लगाया है। यह है ज्ञान की सच्ची विनय। इस सच्ची लगन का ही परिणाम है कि अनेक ग्रन्थ लुप्त होने से बच गये हैं। इस नोट में पाठको के सम्मुख उन जैनग्रन्थों की नामावली हम उपस्थित कर रहे हैं, जो लंदन की 'रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी' के संग्रहालय मे हैं। इनमे से प्रायः सब ही ग्रन्थ कर्नल जेम्स टॉड सा० ने राजस्थान मे घूम कर प्राप्त किये थे और अन्त मे उनको उन्होंने सोसायटी को अर्पण कर दिया था। राजस्थान मे प्राय श्वेताम्बर जैनधर्म का बाहुल्य रहा है—यही कारण है कि संग्रह मे प्रायः सब ही ग्रन्थ श्वेताम्बर संप्रदाय के हैं। आजकल लंदन पर जर्मनी के आकाशी आक्रमण

हो रहे हैं और आशङ्का है कि कहीं यह अपूर्व सग्रह क्षति में न आ जाय ! काश दुनिया में जिनवाणी का प्रचार होता, तो शायद यह नृशसता न दिखती। भावना कीजिये कि दुनिया से नृशसता मिट जाय और प्रयत्न कोजिये कि जिनवाणी का प्रकाश दिगतव्यापी हो! सोसायटी के सग्रहालय की ग्रन्थ सूची उसके जून (१९४०) मास के जर्नल में प्रकाशित हुई है। उसी से जैनग्रन्थों की नामावली सधन्यवाद दी जा रही है —

(१) न० १० उपदेशमाला या उवएसमाला—प्राकृत धर्मदासकृत जयशेपर की सस्कृत अवचूरि सहित। ४३ पत्र। १८वीं शताब्दि।

(२) न० १३ उपदशरमा—सस्कृतहिन्दो रत्नमदिर कृत 'उपदेश तरगिणी' के आधार पर कथा व ऐतिहासिक सूचनायें हैं। ६० पत्र। विक्रम स० १८६६ मधुमास वद दशम्।

(३) न० १७ सिद्ध हेम शब्दानुशासन—लघुवृत्ति सहित अध्याय ५-सस्कृत—हेमचन्द्र कृत पत्र १८-स० १५३१

(४) न० १८ वासुपूज्य चरित्—सस्कृत नागेन्द्रगच्छीय वर्द्धमानसूरि कृत महाकाव्य रचनाकाल १२९९ विक्रम—९४ पत्र असम्बद्ध—१६ वीं शताब्दि।

(५) न० १९ सन्देह विषौषधि—भद्रबाहु के 'कल्पसूत्र' पर जिनप्रभकृत सस्कृत वृत्ति। १६ वा श०। न० ३० इसी की दूसरी प्रति है।

(६) न० २० निरयावलिया सूय श्वे आगम का उपाङ्ग—४१ पत्र प्राकृत १६वीं श०।

(७) न २१ स्याद्वाद रत्नाकर अथवा प्रमाण नय तत्वालोकालङ्कार—वादि देव (देव सूरि) कृत जैन न्याय ग्रन्थ रत्नप्रभ की 'रत्नाकरावतारिका' टीका सहित। ७१ पत्र। सस्कृत। १६वीं श०। (शायद यह ग्रन्थ दिगम्बरीय हो ?)

(८) न० २२ ताजिकसार-ज्योतिष हरिभद्र कृत-स० ४८ पत्रा स० १८०७ उदयपुर मध्ये।

(९) न० २७ हीर सौभाग्य स० देवविमल गणि रचित श्वे० हीर विजय सूरि की प्रशसात्मक रचना। ८०। पत्र। १७ वीं श०।

(१०) न० २८ प्रज्ञापना टीका—मलयगिरि कृत श्वे० चतुर्थ उपाङ्ग 'प्रज्ञापना' की सस्कृतटीका। स० १६१३। जेसलमेर।

(११) न० २९ तत्वचिन्तामणि (प्रत्यक्ष खड, परिच्छेद १)-स०-गगेश उपाध्याय कृत। पत्र ४७। १६वीं श०। (?)

(१२) न० ३१ कुमारपाल-राजर्षि रास—हिन्दी-सागण के पुत्र ऋषभदास द्वारा स० १६७० में रचित—१८६ पत्र-स० १७४६।

(१३) न० ३३ वृद्ध शत्रुजय माहात्म्य—सं० धनेश्वर रचित पक्ति मध्यमें गुजराती भाष्य ७९४ पत्र स० १७८७

(१४) नं० ३४ कालिकाचार्य कथानक—प्राकृत-भावदेवकृत-सचित्र-पत्र ११२-सं० १४६१

(१५) नं० ३५ संग्रहणी सूत्र और त्रैलोक्यदीपिका-प्रा०—मलधारि हेमचंद्र के शिष्य चन्द्रसूरि रचित। वच्छराज के गुजराती अनुवाद सहित। ४० पत्र। सं० १७५० जालोर। नं० ७३ दूसरी प्रति है।

(१६) नं० ३६ मे कई रचनाओं का संग्रह है जिनमे एक 'कामधेनु कोष्टका.' रायचन्द्र के तिथि-चूडामणि-'कामधेनु' से रचा गया है। पृ० २४। १७वी श०। सं०।

(१७) नं० ३७ पञ्चलिङ्गी-विवरण; श्री जिनेश्वरकृत प्राकृत 'पञ्चलिङ्गी' की जिनपति कृत संस्कृत टीका! इसमे सम्यक्त्व के पांच लिङ्ग उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुम्पा और आस्तिक्य) का निरूपण है। बम्बई से छप चुकी है।

(१८) नं० ४१ जम्बूकुमार रास—गुज०-नयविमल सूरि कृत सं० १७३७ में—पत्र २२-सं० १७९४

(१९) नं० ४२ हम्मीर चरित्—सं०-नयचंद्र कृत-चौहान राजा हम्मीर का चरित्र है। १०० पत्र। १८वी श०।

(२०) नं० ४३ षड्विधावश्यक विधि—सं०-कर्त्ता अज्ञात-९३ पत्र-सं० १६२९। नं० ६७ दूसरी प्रति है।

(२१) नं० ४७ एक जैन प्राकृत काव्य, जिसका नाम संभवतः 'हरिवंश-वंश' सदृश है। महाभारत की जैन आवृत्ति जिसमे नेमिनाथ जी तक कथा है। १५९ पत्र। ४४०४ श्लोक। असमाप्त। १७वीं श०। 'यया पुव्व-गंथाउ। परंपराएण अनुमयं तावं हरि-वंस-वंस-जाइ व। उप्पत्ती मिचि वुच्छामि।' (यह ग्रन्थ शायद दिगम्बरीय हो-देखना चाहिए।)

(२२) नं० ४८ कथामहोदधि—सं० प्रा०-सोमचंद्र कृत-३९ पत्र-१७वी श०।

(२३) नं० ४६ भडली वाक्य—राजस्थानी व सं०—३२० श्लो०—भडली की उक्तियों का भट्टारक वर्द्धमान द्वारा निरूपण—२६ पत्र—सं० १८०१

(२४) नं० ५० सिंहासन-बत्रीसी-कथा-चोपाई-गुजराती-नेतसीकृत। ५३ पत्र। सं० १८२४

(२५) नं० ५२ कर्मविपाक प्राकृत-जगच्चंद्र के शिष्य देवेन्द्र कृत 'कर्मग्रंथों' की प्रथम पुस्तक। संस्कृत मे 'सुबोधा' नामक स्वोपज्ञ टीका सहित। १८ पत्र। १६वीं श०।

(२६) नं० ५५ रत्नचूड रास—एक जैन कथा ३४३ छन्दों मे प्राचीन गुजराती—१४ पत्र-सं० १६७८

(२७) म० ६१ उत्तराध्ययनचूरि ज्ञानसागर कृत सस्कृत टीका पत्र ३२ म० ११०१

(२८) न० ६२ स्थापनाङ्ग इवे० आगम ग्रन्थ अभयदेववृत्ति सहित।

(२९) न० ६५ शान्तिनाथ देव चरित स० अजितप्रभ कृत—१३७ पत्र—स० १६६५

(३०) न० ६६ दशवकालिकचूर्णि—११ पत्र।

(३१) न० ६८ विक्रम खापरा-चोर चरित्र गुजराती साधु हर्ष के शिष्य राजशील न चित्रकोट में ज्येष्ठशुक्ल स० १५५३ मे रचा। पत्र ६। म० १७२७

(३२) न० ६९ इलाकुमार चोपाइ—गुज० ज्ञानसागर कृत (स० १७१९) पत्र ७—स० १७२६

(३३) न० ७० मदनकुमार रास—गुज० जालोर में स० १६०३ को दामोदर ने रचा—२२ पत्र-स० १७५२

(३४) न० ७१ वच्छराज हसराज ना चोपी गुज० जिनोदयकृत—पत्र १२ ८८। स०१८२२

(३५) न० ७४ ज्ञाता धम कथा इवे० आगम—१३४ पत्र —१५९५

(३६) न० ८७ अभिधान चिंतामणि स० हेमचन्द्र कृत वल्लभगणि की टीका सहित जिसे उन्होंने जोधपुर में रचा था। १०७ पत्र। १७वी श०।

(३७) न० ९४ अनेकार्थ सग्रह व अभिधान चिंतामणि स० हेमचद्र कृत—स० १८००

(३८) न० १०० नेमिनाथ चरित्—हेमचन्द्र कृत त्रिपष्ठिशलाका पुरुप चरित्र का अष्टम पर्व। पत्र ८७। १७वा श०।

(३९ न० १०१ बृहत् क्षेत्र-समास—प्रा० स० जिनभद्र क्षमाश्रमण कृत—पत्र ३७८ ८१९—स० १३३२

(४०) म० १०६ राजस्थानी भाषा में जैन कविताओं का सग्रह।

(४१) न० १०७ मे अजितप्रभ का अपूर्ण शान्तिनाथ चरित एव एक अन्य प्रा० स० ग्रन्थ है जिसमे धार्मिक क्रियाओ और गणगच्छो का इतिहास है।

(४२) न० १०८ उत्तराध्ययन—टीका, गयसुकुमालनी रास जैन ट्रेक्ट और सूरि परिचयासनी आदि है। १६वा श०।

(४३) न० १०९ गजसिंह चरित्र आदि है। स० १५५६।

(४४) न० ११० उत्तराध्ययन, जगद्विलास प्रवचनसारोद्धार आदि हैं।

(४५) न० १४४ उपदेश रसायन—अपभ्रश प्रा०—जिनदत्तकृत जिनपाल क सस्कृत 'सक्षप विवरण' सहित। ६७ पत्र। स० १२९४।

(४६) नं० ११५ प्रदेशीराज रास—गु०-पत्र २७-सं० २७८६

४७) नं ११७ लघुक्षेत्र समास आदि सं० १८७२

(४८) नं० ११९ आमाड़ कृत विवेक मंजरी—जैन प्रा० - २९४ पत्र—सं० १३३६

(४९) नं० १३३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति. जीवाभिगम आदि (गु० १७वीं० श० ।

(५०) नं० १३४ रूपसेन चरित्र—हिन्दी-जिनवर सागर ९१ पत्र—२८ वीं श०—

(५१) नं० २४० जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—प्रा०—सं० १६४२

(५२) नं० १४६ विक्रम चरित्र—सं०—रामचंद्र सूरि—५७ पत्र १८७८ सं० ।

(५३) नं० १४७ भोज चरित्र – सं०—राजवल्लभ पाठक कृत । पत्र ८७ । सं० १८७६

(५४) नं० शकुनावली विचार – राज० हिंदी-जिनवर कृत-पत्र ४० सं० १८७५

खोज-बीन

(१)

संघी, संघवी, सिंघई, सिगई

ये सब शब्द 'संघपति' के अपभ्रंश हैं। संघपति के प्राकृत रूप 'संघवई' 'संघवइ' होते हैं। गुजरात काठियावाड़ में प्रचलित 'संघवी' शब्द इससे बिल्कुल नजदीक का है। यह 'संघवइ' ही बुन्देलखंड आदि में 'सिंघइ' या 'सिगइ' हो गया है। राजपूताने का 'संघी' या 'सिंघी' पद भी इसी का रूप है।

प्राचीन काल में धनी मानी लोग बड़े बड़े संघ तीर्थयात्रा के लिए निकालते थे जिसमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ होता था। उन दिनों यात्रा कार्य बड़ा कठिन था। सब की जान माल की रक्षा करना, यात्रा में किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे इसका प्रबन्ध करना, सारा खर्च उठाना, यह साधारण काम नहीं था। इसका भार जो कोई उठाता था, शायद वही संघपति कहलाता था।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में शत्रुंजय, गिरनार आदि के लिए संघ निकालने की परम्परा अनवच्छिन्नरूप से अबतक जारी रही है और अब तक इस तरह के संघ निकालनेवाले संघपति की पदवी से विभूषित किये जाते हैं परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में बीच में यह परम्परा नष्ट-सी हो गई थी, उसके पहले के अवश्य ही बहुत से प्रमाण मिलते हैं। फिर भी इस पदवी का मोह नष्ट नहीं हुआ। इसलिये संघ निकालने के बदले जो लोग भगवान का गज रथ निकालने लगे, उन्हें भी पीछे से यह पदवी दी जाने लगी। अब बुन्देलखंड और सी० पी० की परवार, गोलापूर्व, गोलालारे आदि जातियों के लोग गजरथ निकालकर ही 'सिंघइ' या 'सिंगई' बन जाते हैं, संघ निकालने की बात को तो शायद वे भूल ही गये हैं।

खण्डेलवालों और दूसरी कुछ जातियों में भी 'संघी' पद है। परन्तु जान पड़ता है, वह पुराने संघपतियों के ही वंश में चला आया हुआ है, गजरथ चलाकर प्राप्त किया हुआ नहीं।

बड़े बड़े नगरों में जहाँ जैनों का जनसंघ काफी होता था, वहाँ के संघप्रधान मुखिया को भी 'संघपति' कहा जाता था, ऐसा मालूम होता है।

प्राचीन शिलालेखों, प्रतिमालेखों और ग्रन्थ प्रशस्तियों में संघपति का संक्षिप्त रूप 'सं' लिखा मिलता है। शायद यह पद आगे के वंशजों को भी परम्परा से मिलता था।

(२)

साधु और साहु

'साधु' शब्द का प्राकृत रूप 'साहु' होता है, और चूंकि 'साहु' लोकभाषा का एक प्रचलित पद (टाइटिल) था इसलिए जब संस्कृत के लेखको को अपनी संस्कृत रचना में उसके निर्देश की आवश्यकता हुई, तब उन्होने उसका संस्कृतरूप साधु' बना लिया और साहु की पत्नी 'साहुणी' को 'साध्वी'। परन्तु इन शब्दो से प्रायः भ्रम हो जाया करता है। आम तौर से साधु शब्द का उच्चारण करते ही हमारे सामने मुनि यति का भाव आ जाता है और साध्वी से आर्यिका या तपस्विनी का। परन्तु ग्रन्थ-प्रशस्तियों प्रतिमा-लेखों आदि में साधु शब्द साहूकार या धनी गृहस्थ के अर्थ मे अधिकता से व्यवहार किया गया है और साध्वी उसकी पत्नी के लिए।

पं० आशाधर जी ने अपनी प्रशस्ति मे एक जगह लिखा है—"मुग्धबुद्धिप्रबोधाय महीचन्द्रेण साधुना. धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता।" इसका अर्थ बडे बड़े पंडित तक यही कर डालते है कि महीचन्द्र नामक साधु ने टीका बनवाई। परन्तु वास्तव में महीचन्द्र एक साहू या सेठ थे। यथार्थ मे साहु या शाह शब्द फारसी भाषा का है, जिसका अर्थ स्वामी, राजा, सज्जन, महाजन आदि होता है। मुसलमान-काल मे यह शब्द लोकभाषा मे प्रचलित हो गया था। संस्कृत मे साधु शब्द भला, सज्जन आदि अर्थों में भी व्यवहृत होता है, इसलिए यद्यपि 'साहु' का 'साधु' रूप बहुत दूरवर्ती नही हो जाता है, फिर भी यह 'साहु' शब्द संस्कृत मे आया हुआ नही मालूम होता।

(३)

पति-पत्नी के समान नाम

कथा-ग्रन्थो मे अक्सर भविष्यदत्त सेठ भविष्यदत्ता सेठानी, सोमदत्त ब्राह्मण सोमश्री ब्राह्मणी, धनदत्त धनदत्ता, यज्ञदत्त यज्ञदत्ता आदि पति-पत्नियो के एक से नाम मिलते हैं। इससे आजकल के पढ़नेवालों को यह खयाल हो जाता है कि ये सब कल्पित नाम है और यों ही गढ़ लिये गये है। यह हो सकता है कि बहुत-सी कथायें कल्पित हो, कथाये कल्पित बनाने के लिए कोई रुकावट भी नहीं है परन्तु केवल इस प्रकार के नामों से ही उन्हे कल्पित नही कहा जा सकता। जिस तरह आजकल पति के नाम के पूर्व 'मिसिस' या 'श्रीमती' जोड़ देने से उसकी पत्नी का बोध होता है, उसी तरह जान पड़ता है पूर्वकाल मे यहाँ के भी बहुत से प्रान्तों मे पति के नाम के आगे श्री, दे (देवी), ही (ह्री) जोड़ देने या लिंग-परिवर्तन कर देने से ही पत्नी का नाम हो जाता था। प्राचीन लेखो और ग्रन्थ प्रशस्तिया मे से इस तरह के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते है। जैसे—

संवत् १७९७ वर्षे श्रावणसुदि १४ शनिवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्रीमहेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये सवाई जयपुर मध्ये श्रीपार्श्वनाथ चैत्यालये बिलालागोत्रे साह श्रीहर (हीरा) राम तस्य भार्या हीरादे तयो पुत्र साहश्री मानन्दरामजी तस्य भार्या सारन्दे तयो पुत्रौ द्वौ। प्रथम साह श्री नगालुगनी तस्य भाया नैणादे तयो पुत्रौ द्वौ। चिरजीवि हितराम जी द्वितीय भागचन्द्र। मानन्दासस्य द्वितीय पुत्र साहजी श्रीगोपीराम जी। तस्य भार्ये द्वे। एतेषा मध्ये साह जी श्रीगोपीरामजी इदं पुस्तक षट्कर्मोपदेशरत्नमालानामक आचार्य श्रीक्षेमकीर्तिजी तच्छिष्य पंडित गोवर्द्धनदासाय निजापि (?) घटापितं ज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं। श्रीरस्तुकल्याणमस्तु। शुभ भवतु।'*

जयपुर के उक्त भंडार में ही पंडित जिनदास वैद्य का 'होलीरेणुका पर्वचरित्र' नाम का एक ग्रन्थ (गठरी ६, नं० १ पत्र ५६, श्लोक ८४३) है, जिसकी प्रशस्ति में जिनदास वैद्य की विस्तृत पूर्व कुलपरम्परा दी हुई है। इसमें बादशाह फीरोजशाह, ग्यासुद्दीन और नादिरशाह बादशाहों के द्वारा सम्मानित प० हरपति पद्म और बिम की प्रशंसा की गई है और फिर लिखा है कि बिम के पुत्र धर्मदास वैद्यशिरोमणि थे। इन धर्मदास की पत्नी का नाम धर्मश्री था—धर्मश्रीरिति नामतोऽस्य वनिता देवादिपूजारता।'

इन दोनों के रेखा नामक पुत्र हुए जिनका रणथंभोर में शेरशाह नरेन्द्र ने सम्मान किया। इनकी पत्नी का नाम रेखश्री था—भार्यास्य सद्गुणोपेता नाम्ना रेखश्रीरिति स्मृता।'

इन्हीं के पुत्र ग्रन्थकर्ता जिनदास हुए। वैद्य जिनदास की पत्नी का नाम भी दिया है परन्तु वह ठीक ठीक पढ़ा नहीं जाता।

करकंडुचरित (कारंजा सीरीज) की प्रति के अन्त में यह प्रशस्ति दी है—"संवत् १५०७ वर्षे खंडेलवालान्वये गोधागोत्रे साहा नाढा (नयणा) तद्भार्या नयणश्री तत्पुत्र साह मेहा तद्भार्ये द्वे प्रथमा मेहादे द्वितीया सुहागदे तत्पुत्रौ द्वौ।प्रथम साह करमा "

मुनि श्रीजिनविजयजीद्वारा सम्पादित, 'प्राचीन जैन लेख-संग्रह' में पाटन ग्राम का एक लेख (नं० ४३३) इस प्रकार का है—'सं० १५०७ वर्षे का० व ३ बुधे ओशवंशे व्यव० हीरा भा० हीरादे पु० व० धना भा० धनादे पु० व हिमति पितृ श्रेयसे श्रीशान्तिनाथबिंबं कारित श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरि शान्तिसागरसूरिभि प्रतिष्ठितं।"

---

* भट्टारक सकलभूषण कृत इस ग्रन्थ की प्रति जयपुर के पाटोदी जी के मन्दिर में (गठरी नं० ८, ग्रन्थ नं० ४ पत्र संख्या १ ... श्लोक संख्या १५८०) है। सं० ... ... जयपुर में ... इस प्रशस्ति को ... ... था।

इस तरह के और भी अनेक उदाहरण ढूँढ़ कर दिये जा सकते हैं। यह पद्धति जान पड़ती है अब भी कहीं कहीं प्रचलित है। आठ नव वर्ष पहले घाटकोपर (बम्बई का उपनगर) मे मैं जिन धनी सेठ के मकान में रहता था, वे दो भाई हैं. कच्छी हैं। उनमें एक भाई का नाम वेलजी और उनकी पत्नी का नाम वेलावहू है। दूसरे भाई का नाम मैं भूल गया हूं, परन्तु उनकी पत्नी का नाम भी उनके नाम के साथ ही 'वहू' जोड़ कर रक्खा हुआ है।

करीब करीब सभी जगह स्त्री के दो नाम होते हैं एक पिता के घर का और दूसरा पति के घर का। पति के घर आने पर उसे नया नाम दिया जाता है। कोई नया नाम रखने की अपेक्षा पति के नाम के साथ ही श्री. देवी. ही, वहू आदि जोड कर नया नाम बना लेना अधिक सुभीते का है। परन्तु स्त्रियों अपने पति का नाम लेने में संकोच करती हैं और इस तरह उनके नाम मे भी पति के नाम का उच्चारण हो जाता है. शायद इसी लिए इस पद्धति का विस्तार नही हुआ और यह बन्द हो गई।

(४)

साधुओं का बहुपत्नीत्व

हमारे भंडारों में जो हस्तलिखित ग्रन्थ हैं. उनके अन्त मे ग्रंथकर्त्ताओं की प्रशस्तियों के सिवाय ग्रन्थ लिखानेवालों और उन्हें 'ज्ञानावरणी-कर्मक्षयार्थ' दान करनेवालो की भी प्रशस्तियाँ रहती हैं। इनमें प्राय. उनके सारे कुटुम्ब के नाम रहते हैं। उनमे ऐसे बहुत से संघपति या साधु (साहु) मिलते है जिनके एकाधिक स्त्रियों होती थीं। उनकी प्रथमा, द्वितीया, तृतीया भार्याओं के नाम और उनके पुत्रों के नाम भी रहते हैं। इससे पता लगता है कि उस समय धनी प्रतिष्ठित कुलो में बहुपत्नीत्व का आम रिवाज था और वह शायद प्रतिष्ठा का ज्ञापक था। कम से कम अप्रतिष्ठा का कारण तो नहीं समझा जाता था। उदाहरण के लिए हम यहाँ पर केवल पं० राजमल्लजी की वि० सं० १६४१ मे बनी हुई लाटी-संहिता की विस्तृत प्रशस्ति का कुछ अंश उद्धृत कर देना काफी समझते हैं—

तत्रत्य श्रावको भारु भार्या तिस्रोऽस्य धार्मिका।
कुलशीलवयोरूपधर्मबुद्धिसमन्विता. ॥१०
नाम्ना तत्रादिमा मेघी द्वितीया नाम रूपिणी
रत्नगर्भा धरित्रीव तृतीया नाम देविला ॥११

अर्थात् भारू नाम श्रावक की मेघी, रूपिणी और देविला नाम की तीन स्त्रियों थीं। आगे चलकर भारू के नाती न्योता के विषय मे लिखा है।

न्योतासघाधिनाथस्य द्वे भार्ये शुद्धवंशजे ॥१५
आद्या नाम्ना हि पद्माही गौराही द्वितीया मता।

अर्थात् सघपति न्योता की पद्माही और गौराही नाम की दो स्त्रियाँ थीं। न्योता के पुत्र देईदास के भी दो भार्या थीं—एक रामूही और दूसरी कामूही—

भार्या देइदासस्य रामूही प्रथमा मता ॥१९
कामूही द्वितीया ज्ञेया भर्तुश्छन्दानुगामिनी।

इसी वंश में आगे सघपति माल्हा की भी छाजाही, रीधही आदि तीन और स० कामरा की डूगरही और गंगा ये दो स्त्रियाँ बतलाई हैं।

ऐसा नहीं मालूम होता कि सन्तानादि न होने के कारण उक्त धनी लोग अनेक शादियाँ करते थे, क्योंकि प्रायः उन स्त्रियों के पुत्रों का भी उल्लेख है और उन्हें कुल, शील, रूप, धर्म बुद्धियुक्त और पतिच्छन्दानुगामिनी भी बतलाया है। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि अनेक पत्नियाँ होना बड़े पुरुषों की शोभा थी और यह इतना रूढ़ था कि इसमें दोष की कल्पना ही नहीं हो सकती थी।†

—नाथूराम प्रेमी

† यंत्रों की प्रशस्तियों से भी साहु (सम्पन्न) लोगों की बहुपत्नियाँ प्रमाणित हैं, जैसे कि निम्न लिखित उल्लेखों से स्पष्ट है —

"अनीगंज यंत्र नं० २—' गोलालारे ... साहु उदैराज तद्भार्या द्वि० निम्मा चन्द्रा '

जसवतनगर यंत्र नं० १९—'सं० १६८४ गोलाराला धरवार्वरी ... सा० उदोत भार्या द्वयम् निमा, चन्द्रा तत निमा पुत्रास्तया ... समोपण, चन्द्रा पुत्रम् त्रय पामरमा थीपाल लखमीदास ।'

जसवतनगर यंत्र नं० १२— "सं० १७०० बुदेले ज्ञातीये मेनिया गोत्रे साहु तारण भार्या द्वयमरायदे कपूंरा ।"

कुरावली प्रतिमा नं० १३ शान्तिनाथ—"सं० १२०१ प० आचार्य श्री रैहपुलामध्ये तत्प्राम्नाये यमोरकान्वय वासिलगोत्रे सा० धौंधर भार्या द्वे संघाधिपति गजे भार्या द्वे रावश्री गोतो "

किन्हीं लोगों का यह अनुमान करना ठीक नहीं जँचता कि शूद्रस्त्रियों की संतान जोवित रहने के कारण इनका उपयोग किया गया है।

—का० प्र०

श्री महाधवल में क्या ?

[लेखक—प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एलएल. बी.]

१—महाबन्ध का परिचय

षट् खण्डागमका सामान्य परिचय उसके दो भागोंमें प्रकाशित भूमिकाओंमें विस्तारसे दिया जा चुका है। वहां हम बतला आये हैं कि धरसेनाचार्यसे आगमका उपदेश पाकर पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्योंने उसकी छह खंडों में ग्रन्थ रचना की। उन छह खंडों के नाम हैं—जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त विचय, वेदणा, वग्गणा और महाबंध इनमेंसे प्रथम पांच खंड उपलब्ध श्री धवलकी प्रतियोंमें पाये जाते हैं, और छठवें महाबंधके सम्बन्धमें यह सूचना पाई जाती है कि—

'जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। पदेसि चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलिभडारएण महाबंधे सप्पवंचेण लिहिदं ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि"।

(धवला, कारंजा प्रति, पत्र १२५९—६०)

अर्थात् "बंधविधान चार प्रकारका है—प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध। इन चारों प्रकारके बंधोंका विधान भूतबलि भट्टारकने महाबंधमें सविस्तर रूप से लिखा है, इस कारण हम (वीरसेनाचार्य) ने उसे यहां नहीं लिखा। इस प्रकारसे समस्त महाबंधके यहां प्ररूपण हो जाने पर बंधविधान समाप्त होता है।"

श्री जयधवलान्तर्गत गुणधराचार्यकृत कषाय प्राभृतके ऊपर जो यतिवृषभाचार्यकृत चूर्णि-सूत्र पाये जाते हैं, उनमें भी महाबंधके विषयका संकेत है, और जयधवलाकारने वहां भी महाबंधका तथा उसके विषयका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

'सो पुण पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधो बहुसो परूविदो'। (चूर्णिसूत्र)

'सो उण गाहाए पुव्वद्धम्मि णिलीणो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसविसओ बंधो बहुसो गंथंतरेसु परूविदो त्ति तत्थेव वित्थरो दट्ठव्वो। ण एत्थ पुणो परूविज्जदे, पयासियपयासणे फलविसेसाणुवलंभादो। तदो महाबंधाणुसारेण पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधेसु विहासियसमत्तेसु तदो बंधो समत्तो होइ।

(जयधवला, अमरावती प्रति, पत्र ५४८)

अर्थात चूर्णिसूत्रकार कहते हैं—'उस प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधका

प्ररूपण विस्तारसे (अन्यत्र) किया जा चुका है'। इस पर जयधवलाकार टीका करते हुए कहते हैं—

"गाथाके पूर्वार्धमें सूचित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश विषयक बंध दूसरे ग्रन्थोंमें विस्तारसे प्ररूपित हो चुका है, अतएव उसका विस्तार उन्हीं ग्रन्थोंमें देख लेना चाहिए। यहां उसके पुनः प्ररूपण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो विषय एक जगह प्रकाशित हो चुका है, उसके पुनः प्रकाशनसे कोई विशेष लाभ नहीं पाया जाता। अतः महाबंधके अनुसारही प्रकृति स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप बंधोंके समझ लेने पर बंधका प्रकरण समाप्त हो जाता है"।

इन उल्लेखोंसे सुस्पष्ट है कि महाबंध स्वयं भूतबलि आचार्यका रचा हुआ ग्रन्थ है, उसमें बंध विधानके चार प्रकार—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका खूब विस्तारसे वर्णन किया गया है, और यह वर्णन इतना विशद और सर्वमान्य हुआ कि यतिवृषभ और वीरसेन जैसे आचार्योंने अपनी अपनी ग्रन्थ रचना में उसकी सूचनामात्र दे देना पर्याप्त समझा। उस विषय पर और कुछ विशेष कहनेकी उन्हें गुंजायश ही नहीं दिखा।

२—महाबंध, महाधवल व सत्तकम्म और उसकी पंजिका

इस महाबंधकी अभीतक कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई। किन्तु हम सब यह आशा करते रहे हैं कि मूडबिद्रीके सिद्धान्तभवनमें जो महाधवल नामकी कनड़ी प्रति ताडपत्रों पर सुरक्षित है, वही भूतबलिकृत महाबंध ग्रन्थ है। इस आशाका आधार केवल हमारा अनुमान ही है, क्योंकि अभीतक न तो कोई परीक्षक विद्वान् उस प्रतिका अच्छी तरह अवलोकन कर पाया, और न किसीने उसके कोई विस्तृत अवतरण आदि देकर उसका सुपरिचय ही कराया। उस प्रतिका जो कुछ थोड़ासा परिचय अभीतक उपलब्ध हुआ है, वह मूडबिद्रीके पं० लोकनाथ जी शास्त्रीकी कृपासे उनके वीरवाणीविलास जैन सिद्धान्त भवनकी प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५) के भीतर पाया जाता है। इस परिचयके सूक्ष्म अवलोकनसे मुझे अब यह भय होने लगा है कि कदाचित् महाधवलाकी प्रतिके सम्बन्धमें हमारी उपर्युक्त आशा निर्मूल सिद्ध हो ? पं० लोकनाथ जी के दिये हुये अवतरणों परसे तो ज्ञात होता है कि महाधवलकी प्रतिके अन्तर्गत कोई स्वतन्त्र मौलिक रचना ही नहीं है। उस ग्रन्थके आदिकी जो एक पंक्ति दी गई है वह इस प्रकार है—

'वोच्छामि सत्तकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं'

इसका अर्थ हुआ 'मैं सत्तकम्म पर पंचिकारूपसे सुमहार्थ विवरण कहता हूं'। इससे जाना जाता है कि रचयिताकी प्रतिज्ञा किसी सत्तकम्म नामक ग्रन्थ पर पंचिका या पंजिकारूप

सुविस्तृत विवरण लिखनेकी है; किसी मौलिक ग्रन्थकी रचना करनेकी नहीं। इस परसे यह आशा हो सकती है कि भूतबलिकृत महाबंधका ही दूसरा नाम सत्तकम्म हो, और प्रस्तुत प्रतिमें वही महाबंध किसी अज्ञात आचार्य द्वारा रचित पंजिका सहित सुरक्षित हो। धवलाके प्रथम भागकी भूमिका लिखते समय मुझे यही आशा हुईथी, और उसके आधार भी अनेक थे। धवल ग्रन्थमें 'संतकम्मपाहुड' और 'कसायपाहुड' के अनेक उल्लेख साथ साथ इस प्रकार आये हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि वहां 'संतकम्म'से लेखकका अभिप्राय पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा उद्धृत समस्त महाकम्मपयडिपाहुडसे है। उदाहरणार्थ, धवला भाग १ पृ० २१७ पर पाया जाता है—

'एसो सन्तकम्मपाहुड-उवएसो। कसायपाहुड-उवएसो पुण ·· 'इत्यादि।

आगे पृ० २२१ पर पुनः आया है—

'आइरियकहियाणं संतकम्म-कसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण,··· 'इत्यादि।

जयधवलामें एक स्थानपर स्पष्ट ही कहा गया है कि संतकम्म महाधिकारमें कृति वेदनादि चौवीसों अनुयोगद्वार प्रतिबद्ध हैं। यथा—

संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि-चउवीसमणियोगद्दारेसु पडिबद्धेसु ··· इत्यादि।

(जयधवला, अमरावती प्रति, पत्र ५१२)

विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें समस्त धवला टीकाको ही सत्कर्म नाम दिया है। यथा—

'प्राकृत-संस्कृतभाषया सत्कर्मनामटीकां द्वासततिसहस्त्रप्रमितां धवलानामांकितां लिखाप्य ·····' इत्यादि।

इन उल्लेखो परसे यह जाना जा सकता है कि महाकम्मपयडि पाहुड का ही दूसरा नाम संतकम्मपाहुड है और चूंकि यह समस्त ग्रन्थ या उसका बहुभाग धवलाके अन्तर्गत है, अतएव समस्त धवलाको भी सत्कर्म संज्ञा देना निरर्थक नहीं कहा जा सकता। वीरसेन स्वामीने एक स्थान पर यह भी बतला दिया है कि किसी ग्रन्थके एक भागको भी पूरे ग्रन्थके नामसे उल्लिखित करनेमें कोई दोष नहीं है। वेदना खंड के आदिमें प्रसंगानुसार प्रश्न उठाया गया है कि 'वेदना खंड आदि एक एक खंडको महाकर्मप्रकृतिपाहुड कैसे कहा जा सकता है'? इसका आचार्यने उत्तर दिया है कि "चौबीस अनुयोगद्वारोंसे एकान्ततः पृथग्भूत तो महाकर्म-प्रकृति पाहुडत्वका सद्भाव है नहीं, अतः एक एक अनुयोगद्वारको भी महाकर्म प्रकृति पाहुड कहनेमें कोई दोष नहीं'। फिर प्रश्न उठता है कि 'इस तरहसे इन सब अनुयोगद्वारोंमें कर्मप्रकृतिपाहुडत्व मान लेनेसे तो बहुतसे उसी नामके पाहुड माने जानेका प्रसंग आ जायगा?' इसका आचार्य उत्तर देते हैं—'इसमें भी कोई दोष नहीं, यह तो किसी प्रकारसे इष्ट ही है।"

'कथं णेयणा खडादि खडगयस्स महाकम्मपयडिपाहुडत्त्व ? ण कदियादि चउवीस अणियोगद्दारेहिंतो पयंतेण पुधभूद महाकम्मपयडिपाहुडाभावादो। पदेसिमणियोगद्दाराण कम्मपयडिपाहुडत्ते सते पाहुडबहुत्त पसज्जदे ? ण एस दोसो, कथंचि इच्छिज्जमाणत्तादो।'

इसके अनुसार हमने समझ लिया था, कि पंजिकाकारने सम्भव है सतकम्मपाहुडके एकदेश विषयका प्ररूपण करने वाले महाबंधको ही 'सत्तकम्म' कहा हो। और इसी ओर हमारा झुकाव इस कारण और भी हो गया, क्योंकि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें तुम्बुलूराचार्य द्वारा दोनों सिद्धान्तोंपर कनड़ीमें चूड़ामणि नामकी बडी भारी टीकाके अतिरिक्त छठे खण्ड पर लिखी गई पंजिकाका भी उल्लेख किया गया है। यथा—

अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे।
षष्ठेन विना खडेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयो ॥१६५॥
चतुरधिकाशीति सहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम्।
कर्णाटभाषयाकृत महतीं चूडामणिं व्याख्याम् ॥१६६॥
सप्तसहस्रग्रन्थां षष्ठस्य च पंचिकां पुनरकार्षीत्।

इन्हीं आधारों परसे उक्त ग्रन्थकी भूमिका में मैंने उस समय लिखा था कि "महाधवलका जो परिचय धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंके प्रशस्तिसग्रहमें दिया गया है उसमें पंचिका रूप विवरणका उल्लेख पाया जाता है। जान पडता है कि यही तुम्बुलूराचार्यकृत षष्ठ खण्डकी वह पंचिका है जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है। यदि यह ठीक हो तो कहना पडेगा कि चूडामणि व्याख्याकी भाषा कनडी थी, किन्तु इस पंचिकाको उन्होंने प्राकृतमें रचा था।"
(देखो धवला, भाग १, भूमिका पृ० ४९)

आगे चलकर मैंने फिर कहा है "जान पडता है महाधवलका मूल ग्रन्थ सतकम्म (सत्कर्म) नामका है और उसमें महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे वेदना और वर्गणा खण्डमें वर्णित प्रथम छहको छोडकर शेष निबन्धनादि अठारह अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण है। महाधवल या सत्कर्मकी उक्त पंचिका कनकी और किसकी है ? सम्भवत यह वही पंचिका है, जिसको इन्द्रनन्दिने समन्तभद्रसे भी पूर्व तुम्बुलूराचार्य द्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण विरचित कहा है।"　(धवला, भाग १, भूमिका पृ० ६९)

किन्तु अभी अभी स्वय श्री धवलमें ही हमें एक ऐसा उल्लेख मिल गया है, जिसमें महाबंधको सतकम्म पाहुडसे पृथक् निर्दिष्ट किया है। उपक्रम अनुयोगद्वारमें एक स्थान पर कहा है कि—

'एत्थ पदसि चदुण्णमुवक्कमाण जहा सतकम्मपयडिपाहुडे परूविद, तहा परूवेयव्व। जहा महाबंधे परूविद तहा परूवणा एत्थ किं ण कीरदे ? ण, तस्स पढमसमयबंधम्मि चेव वावारादो।'　(धवला, कारजा प्रति, पत्र १२६८)

यहां शंकाकारके मुखमे यह कहलाया गया है कि 'इन विषय पर इन चारों उपक्रमोंका जैसा प्ररूपण 'संतकम्मपयडिपाहुड' में किया गया है, वैसाही क्यों करना चाहिए, जैसा महाबंध मे प्ररूपण है, वैसा क्यों न किया जाय ?, इत्यादि।

इस परसे स्पष्ट है कि यद्यपि महाकर्मप्रकृतिपाहुडकी अपेक्षासे महाबंध भी उस प्राभृतका एक अंग है, तथापि अपनी रचना की दृष्टिसे वह संतकम्मपाहुडसे पृथग्भूत गिना जाता था। अतएव संतकम्म या सत्तकम्मसे महाबन्धका तात्पर्य सामान्यतः नहीं लिया जा सकता।

पं० लोकनाथजीके दिये हुए अवतरणोंका सूक्ष्म विश्लेषण करनेसे यह और भी सुदृढ़ हो जाता है कि पंजिकाकारका अभिप्राय यहां 'सत्तकम्म' से महाबंधका बिलकुल नहीं है, किन्तु किसी अन्य ही रचनासे है। पंडितजीका दूसरा अवतरण इस प्रकार है—

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि-वेदणाओ (दि) चौवीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि-वेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास (कम्मपयडि-बंधणेसु) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि, पुणो बंधविधाणणामणियोगो खुद्दाबंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसट्ठार-साणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगंभीरत्तादो अत्थ-विसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो।'

इस अवतरणमे 'वेदणाओ' के स्थान पर कोष्टक मे सूचित 'वेदणादि' की कल्पना मेरी है, और आगे पाससे आगे छूटे हुए स्थान पर 'कम्म-पयडि-बंधणेसु' पाठका अनुमान भी मेरा है। शेष अवतरण कुछ विरामादि चिन्होंको छोड़कर पं० लोकनाथजी द्वारा उद्धृतरूपमे ही है। इसका अर्थ मैं इस प्रकार करता हूं—

'महाकर्म प्रकृति पाहुडके कृति, वेदना आदि चौवीस अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे कृति और वेदना, ये दो अनुयोगद्वार वेदनाखंडमें; फिर स्पर्श, कर्म प्रकृति और बंधन इन चार अनुयोगद्वारोंमेसे बंधनके बंध और बंधनीय नामक अनुयोगों सहित तीन अनुयोग वर्गणाखंडमें, और बंधका बंध विधान नामका अनुयोगद्वार खुद्दाबंध खंडमे (?) विस्तारसे प्ररूपित किये जा चुके हैं। इन छहो अनुयोगद्वारोंसे शेष अठारह अनुयोगद्वार 'सत्तकम्म' मे सब प्ररूपित किये गये हैं। तो भी उनके अति गंभीर होनेके कारण उनके विषम पदोंका अर्थ स्थूल उद्धरणो द्वारा पंजिका रूपसे कहते हैं।"

इस अवतरणमे अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनायें पाई जाती हैं। प्रथम तो महाकर्मप्रकृति-पाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारो का जो खंडरचनामे समावेश बतलाया है, वह बहुत उपयोगी है। उससे स्पष्ट जाना जाता है कि कृति और वेदनाका अन्तर्भाव वेदनाखंडमे, तथा स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधनके प्रथम दो विभाग-बंध और बंधनीयका अन्तर्भाव वर्गणा खण्डमे हो

जाता है। बंधनके बंधविधान नामक भेदका जो खुद्दाबंधमें प्ररूपण कहा गया है, वह शकनीय है, क्योंकि ऊपर जो महाबंधसे सम्बन्ध रखने वाले दो अवतरण धवला और जयधवलाके दिये जा चुके हैं उनसे स्पष्ट है कि बंधविधानका सविस्तर वर्णन महाबंध में किया गया है, खुद्दाबंधमें नहीं। यथार्थतः खुद्दाबंधमें तो बंधनके अन्य एक भेद बंधक अर्थात् बंध करने वाले जीवका, कर्मबंधक भेदोंके आश्रयसे वर्णन पाया जाता है और उसके स्वामित्व, काल, अन्तर भंगविचय आदि ग्यारह अधिकार हैं। तथा वह खण्ड, जीवट्ठाण व बंधसामित्तविचयके समान, उक्त अनुयोगद्वारोंके क्रमानुसार प्ररूपणसे पृथक् रचा गया है। खुद्दाबंधके आदिमें स्पष्ट कहा गया है कि—

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि वेदणादिसु चदुवीस अणियोगद्दारेसु छट्ठम्स बंधणा त्ति अणियोगद्दारस्स बंधो, बंधगा, बंधणिज्जं, बंधविधाणमिदि चत्तारि अधियारा। तेसु बंधगेत्ति विदिओ अधियारो, सो पदेण वयणेण सूचिदो। जे ते महाकम्मपयडिपाहुडम्मि बंधगा णिद्दिट्ठा, तेसिमिमो णिद्देसो त्ति वुत्त होदि।'

(धवला, अमरावती प्रति, पत्र ४७५)

जान पड़ता है कि यहा प्रतिमें ही या उसके अवतरण लेनेमें महाबंधकी जगह खुद्दाबंध लिखा गया है। महाधवलसे नकल करने वालेने जान बूझकर भी महाबंधकी जगह खुद्दाबंध लिखा हो, तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि वह भी प्रस्तुत ग्रंथको महाबंध ही समझ रहा हो, अतएव महाबंधका प्ररूपण पहले हो चुका, यह बात उसे इष्ट प्रतीत नहीं हुई।

दूसरी बात जो इस अवतरणमें ज्ञात हो जाती है, वह यह है कि महाकम्मप्रकृतिपाहुडके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम छह अनुयोगद्वारोंको छोड़कर शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण करने वाले ग्रंथका नाम 'सत्तकम्म' है और उसी 'सत्तकम्म' की प्रस्तुत ग्रंथमें पंचिका रची गई है।

महाकम्मप्रकृतिपाहुडके अन्तिम अठारह अनुयोगद्वारोंके विषयमें धवलामें यह सूचना पाई जाती है—

'भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्त देसामासियभावेण लिहिदं, तेणेदेण सुत्तेण सूचिद सेस अट्ठारस अणियोगद्दाराणं किंचि सखेवेण परूवणं कस्सामो।

अर्थात् भूतबलिभट्टारकने यह सूत्र देशामर्षकभावसे (एक देश सूचना द्वारा समस्त विषयकी सूचनारूपसे) लिखा है। अतएव इस सूत्र द्वारा सूचित शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका कुछ सक्षेपमें हम (वीरसेनस्वामी) प्ररूपण करते हैं।'

इससे हमें ज्ञात हुआ कि बंधनके आगेके अठारह अनुयोगद्वार स्वयं धवलाकार वीरसेन स्वामी द्वारा प्ररूपित हैं। सूत्रकार भूतबलि आचार्यने उनका प्ररूपण नहीं किया। वीरसेन

स्वामीने इस अपनी रचनाको मूलसूत्रकारोंकी रचनासे पृथक् निर्देश करनेके लिये उक्त सूचनाके अतिरिक्त एक और सावधानी की है। और वह यह है कि धवलाके इस विभागको उन्होंने चूलिका कहा है। यथा—

'एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम'।

वीरसेनकी इस चूलिकारूप रचनाका नाम सत्कर्म अन्यत्र भी पाया जाता है। सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी रचनादिका विशद इतिहास प्रस्तुत करनेवाले इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें कहा है—

काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्वज्ञः ॥१७७॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितम-निबंधनाद्यधिकारानष्ट दश च लिलेख ॥१७८॥
आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात्।
वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृत-जिनगृहे स्थित्वा ॥१७९॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट् खंडतस्ततस्तस्मिन्।
उपरितम-निबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥१८०॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खंडं विधाय संक्षिप्य।
इति षयणां खंडानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥१८१॥
प्राकृत-संस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्। इत्यादि।

अर्थात् "कुन्दकुन्दाचार्यसे लगाकर बप्पदेव तक सिद्धान्तग्रन्थोंकी अनेक टीकायें लिखी जानेके पश्चात् कितने ही काल जाने पर चित्रकूटपुर निवासी श्रीमान् एलाचार्य सिद्धान्ततत्वज्ञ हुये। उनके समीप समस्त सिद्धान्तका अध्ययन करके वीरसेन गुरुने ऊपरके आठ अधिकार लिखे। फिर चित्रकूटसे आकर भगवान् वीरसेनगुरुने वाटग्रामके आनतेन्द्र द्वारा निर्मापित जिनालयमें निवास किया। और वहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति ग्रन्थको भी पाकर उन्होंने ऊपरके बन्धनादि अठारह अधिकारोंकी रचना पूरी की। इस प्रकार उन्होने संक्षेपमें 'सत्कर्म' नामक छठे खंडकी रचना की; और इन छहों खण्डोंकी उनकी संस्कृत-प्राकृतमिश्रित धवला टीका बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण तैयार हो गई।"

यहाँ इन्द्रनन्दिने वीरसेनाचार्य द्वारा रचित शेष या उपरितम अठारह अधिकारों या अनु-योगद्वारोंको ही 'सत्कर्म' नाम दिया है। अतः अनुमान होता है कि महाधवल कहलानेवाली प्रतिमें जो शेष अठारह अनुयोग द्वारोंके प्ररूपण करनेवाले 'सत्तकम्म' की पंजिका सुरक्षित है, वह वीरसेन स्वामीकी इसी रचना पर पीछेके किसी आचार्य द्वारा रची गई पंजिका हो।

इस अनुमानकी जाँचके लिए प० लोकनाथजी द्वारा दिये गये तीसरे अवतरणको देखिए। ग्रन्थके विषयका प्रारंभ इस प्रकार किया गया है—

'त जहा—तत्थ पढमाणियोगद्दारस्स णिबधणपरूवणा सुगमा। णवरि तस्स णिक्खेवो छव्विहमरूवेण परूविदो, तत्थ तदियस्स दव्वणिक्खेवस्स सरूवपरूवणट्ठ आइरियो पयमाह—

त जहा—तत्र तार जीवदव्वस्स पोग्गलदव्वमवलंबिय पज्जाएसु परिणमणा-वहाण उच्च। जीवदव्व दुविह, ससारिजीवो मुक्कजीवो चेदि। तत्थ मिच्छत्तासजमकसाय जोगेहि परिणदससारिजीवा जीव भव-खेत्त पोग्गलविवाइसरूवकम्मपोग्गले घधिऊण पच्छा तेहिंतो पुव्वत्तछव्विहफल्लसरूवपज्जायमणयभयभिपण समरदो जीवो परिणमदि त्ति। एदेसि पज्जायाण परिणमणा पोग्गलणिबधण होदि। पुणो मुक्कजीवस्स एवविधणिबधण णत्थि, किंतु सत्थाणेण पज्जायतर गच्छदि। पुणो

'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वतरपडिबधो इदि।'

एदस्सत्थो—एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदसणाणि। पुणो दुविह जीवाण णाण सहायविसयक्खिदजीवेहिंतो वदिरित्त जीवपोग्गलादिसव्वदव्वाण परिच्छेदणसहावण पज्जा यतरगमणणिबधण होदि। एव दसण पि वत्तव्व।

इस अवतरण परसे सुस्पष्ट है कि ग्रन्थकी रचना टीका टिप्पणरूप हो है, स्वतन्त्र रचनारूप नहीं। दूसरी यह बात भी स्पष्ट है कि रचना निबधन अधिकारके विषयको लेकर प्रारम्भ होती है। उसमें महाबधको अन्तभूत करनेवाले छठे बन्धन अधिकारका स्पर्शमात्र भी नहीं है। पंजिकाकार यह भी सूचित करते हैं कि उस विषयका खूब प्ररूपण अन्यत्र हो चुका है। फिर पंजिकाकार कहते हैं कि वहाँ पर अर्थात् उनके आधारभूत ग्रन्थके अठारह अधिकारोंमेंसे प्रथमानुयोग निबधनकी प्ररूपणा सुगम है। विशेष केवल इतना है कि उस निबधनका निक्षेप छह प्रकारसे बतलाया गया है। उनमें तृतीय अर्थात् द्रव्यनिक्षेपके स्वरूपकी प्ररूपणामें आचार्य इस प्रकार कहते हैं, जिसका खुलासा यह है कि यहा पर पुद्गलद्रव्यके अवलंबनसे जीवद्रव्यका पर्यायोंमें परिणमन विधानका कथन किया जाता है। जीवद्रव्य दो प्रकारका है, संसारी और मुक्त। इनमें मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगसे परिणत जीव ससारी है। वह जीवविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और पुद्गलविपाकी कर्मपुद्गलोंको बांधकर अनन्तर उनके निमित्तसे पूर्वोक्त छह प्रकारके फलरूप अनेक प्रकारकी पर्यायोंमें ससरण करता है, अर्थात् फिरता है। इन पर्यायोंका परिणमन पुद्गल निबधन होता है। पुन मुक्तजीवके इस प्रकार का परिणमन नहीं पाया जाता है किन्तु वह अपने स्वभावसे ही पर्यायान्तरको प्राप्त होता है। ऐसी स्थितिमें—'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वतरपडिबद्धो' अथात् जिस द्रव्यका स्वभाव द्रव्यान्तरसे प्रतिबद्ध है, यह वाक्य आचार्य द्वारा कहा गया है। इत्यादि।

इस प्रकरणके मिलानके लिए हमने वीरसेन स्वामीके धवलान्तर्गत निबन्धन अधिकारको निकाला। वहाँ आदिमें ही निबंधनके छह निक्षेपोंका कथन विद्यमान है और उनमें तृतीय द्रव्यनिक्षेपका कथन शब्दशः ठीक वही है, जो पंजिकाकारने अपने अर्थ देनेसे ऊपरकी पंक्तिमें उद्धृत किया है और उसीका उन्होंने अर्थ कहा है। यथा—

"णिबंधणे त्ति अणियोगद्दारे णिबंधणं ताव अपयद-णिबंधण-णिराकरणट्ठं णिक्खिवियव्वं। तं जहा—णामणिबंधणं, ठवणणिबंधणं, दव्वणिबंधणं, खेत्तणिबंधणं, कालणिबंधणं भावणिबंधणं चेदि छव्विहं णिबंधणं होदि।

इसके पश्चात् नाम और स्थापना निबंधनका स्वरूप बतलाया गया है और उसके पश्चात् द्रव्य निबंधनका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

"जं दव्वं जाणि दव्वाणि अस्सिदूण परिणमदि जस्स वा सहस्स (दव्वस्स) सहावो दव्वंतर-पडिबद्धो तं दव्वणिबंधणं"।

(धवला, कारंजा प्रति, पत्र १२६०)

प्रतिमें 'सहस्स' पद अशुद्ध है, वहां 'दव्वस्स' ही होना चाहिये। इस लक्षणमें वाक्यके ये शब्द 'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो' ठीक वे ही हैं जो पंजिका में भी उद्धृत किये गये हैं और इन्हीं शब्दोंका पंजिकाकारने 'एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदंसणाणि' आदि वाक्योंमें अर्थ किया है। यथार्थतः जितना वाक्यांश पंजिकामें पाया जाता है उतने परसे उसका अर्थ व्यवस्थित करना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु धवलाके उक्त पूरे वाक्यको देखनेमात्रसे उसका रहस्य एकदम खुल जाता है।

इसपरसे पंजिकाकारकी शैली यह जान पड़ती है कि आधार ग्रन्थके सुगम प्रकरणको तो उसके अस्तित्वकी सूचनामात्र देकर छोड़ देना, और केवल कठिन स्थलोंका अभिप्राय अपने शब्दोंमें भूमिकारूपसे समझाकर उसी सिलसिलेमें मूलके विवक्षित पदोंको लेकर उनका अर्थ कर देना। इस परसे पंजिकाकारकी उस प्रतिज्ञाका भी स्पष्टीकरण हो जाता है जहाँ उन्होंने कहा है कि "तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो" अर्थात् 'उन अठारह अनुयोगद्वारोंका विषय बहुत गहन है, अतएव हम उनके अर्थकी दृष्टिसे विषमपदोंका व्याख्यान करते हैं। और ऐसा करने में मूलके केवल थोड़ेसे स्थूल उद्धरण लेंगे, यही पंजिकाका स्वरूप है। मूलग्रन्थके वाक्योंको अपनी वाक्य रचनामें लेकर अर्थ करते जाना अन्य टीका ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, विद्यानन्दिकृत अष्टसहस्रीमें अकलंकदेवकी पूरी अष्टशती इसी प्रकार गुंथी हुई है। पंजिकाकी यह विशेषता है कि उसमें पूरे मूलग्रन्थका समावेश नहीं किया जाता, केवल विषमपदोंको लेकर समझाया जाता है।

बस, यहीं हमारा महाधवलकी प्रतिका परिज्ञान समाप्त हो जाता है, क्योंकि इसके आगेका कोई अवतरण पं० लोकनाथजी शास्त्रीने उद्धृत नहा किया। यदि और कोई अवतरण हमारे सम्मुख होते तो उनपर से विषयकी और भी अधिक जाँच की जाती। प्रतिके अन्तमे ग्रन्थके मूलभागका भी कोई अवतरण शास्त्रीजीने नहीं दिया, केवल यह सूचना की है कि "ग्रन्थके अन्तमें कर्तार नाम प्रशस्ति आदि कुछ भी नहीं है। अन्तमें दो चार कर्णाटक भाषाके श्लोक हैं जो कि माघनन्द्याचार्यके विषयमें प्रशंसात्मक पद्य है, तथा अन्तके श्लोकमें लिखा है कि रूपनामेनकी पत्नीने पंचमी व्रतविधान करके उद्यापनाके समय इस महाधवल सिद्धान्त ग्रन्थको लिखाकर श्रीमाघनन्द्याचार्यको शास्त्रदान किया।" ये कनड़ीके पद्य शास्त्रीजीने उद्धृत भी किये हैं। किन्तु उनपरसे मूल ग्रन्थके विषयमें कोई प्रकाश नहीं पड़ता और न प्रति लिखनेका समय ही ज्ञात होता। तथापि उस प्रशस्तिमें भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि ग्रन्थका नाम महाधवल व अन्य कुछ भी उन पद्योंमें नहीं पाया जाता।

३—क्या महाधवल कहलाने वाली प्रति में महाबन्ध होने की संभावना है ?

पं० लोकनाथजी के अवतरणों परसे महाधवलकी प्रतिके ग्रन्थभागकी अन्तिम सीमाका हमें कुछ भी परिचय प्राप्त न हो सका। अतएव इस विषयमें अन्तिम आशा यह हो सकती है कि उक्त प्रतिके प्रारम्भमें वीरसेनकृत अठारह अनुयोगद्वारोंकी पंजिका हो और तत्पश्चात् उसमें महाबन्धकी रचना भी हो। किन्तु ग्रन्थके परिमाणको देखनेपर यह आशा भी निराशामें परिणत होने लगती है। पं० लोकनाथजी शास्त्रीने उक्त महाधवलकी श्लोक-संख्या चालीस हजार अंकित की है। परंतु इसका निर्णय उन्होंने प्रतिको देखकर किया नहीं प्रतीत होता, किन्तु ब्रह्म हेमचन्द्र विरचित श्रुतस्कंधकी एक गाथाके आधारसे किया है जिसे उन्होंने स्वयं भी उद्धृत कर दिया है। वह गाथा है—

'सत्तरी सहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहस्स बोधव्वो।
महबंधो चालीसं सिद्धन्ततयं अहं वंदे॥८८॥

इस गाथाके अनुसार ही उन्होंने धवलाकी श्लोकसंख्या सत्तर हजार, जयधवलाकी साठ हजार और महाधवलकी चालीस हजार दी है। यद्यपि पंडितजीने उक्त रिपोर्टमें ताड़पत्रोंकी लम्बाई चौड़ाई नहीं दी तथापि उन प्रतियोंका जो परिचय पंडितजीने हमें भेजनेकी कृपा की है उसमें उन्होंने तीनों प्रतियोंके ताड़पत्रोंकी लम्बाई लगभग सवा दो फुट और चौड़ाई तीन इञ्च लिखी है। इसलिए भी तीनों प्रतियोंकी प्रायः एकसी अनुमान की जा सकती है। धवलाकी सत्तर हजार श्लोक संख्या ५९२ ताड़पत्रोंमें समाप्त हुई कही गई है, जिसके

अनुसार प्रत्येक पत्रपर औसत ११८ श्लोक प्रमाण आती है। उसी प्रकार जयधवलाकी साठ हजार श्लोकसंख्या ५१८ पत्रोंमें समाप्त होनेसे प्रतिपत्र ११६ की औसत आती है। अतः धवला और जयधवलाकी पत्रसंख्या उनके परिमाणके अनुसार प्रायः समान है। किन्तु महाधवलके ताड़पत्रोंकी सख्या केवल दो सौ कही गई है। यदि प्रत्येक पत्र पर हम धवला प्रतिके ११८ श्लोकोंकी औसत ले लें तो इन दो सौ पत्रोंका ग्रन्थ प्रमाण केवल तेईस हजार छह सौ अर्थात् चौवीस हजार के भीतर आता है, चालीस हजार नहीं। यदि चालीस हजारकी पूर्ति उन दो सौ पत्रोंमे मानलें तो प्रत्येक पत्रमे श्लोक संख्या दो सौ माननी पड़ेगी जो धवला और जयधवलाकी औसतसे प्रायः दूनी पड़ जाती है और असाधारण जॅचती है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे महावधकी श्लोक-संख्या केवल तीस हजार प्रकट की है। यथा—

प्रविरच्य महावंधाह्वयं तत. षष्ठकं खण्डम् ॥१३९॥
त्रिशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।

किन्तु इस तीस हजारको भी दो सौ पत्रोंमें समाविष्ट करनेके लिये प्रतिपत्र एक सौ पचास श्लोक-संख्या मानना पड़ेगी जो धवला जयधवलाकी औसतसे फिर भी प्राय. डेढ़गुनी बढ़ जाती है। ऐसी अवस्थामें महाधवल कहलानेवाली प्रतिके भीतर पूरे महाबधकी ही गुंजायश नहीं बैठती। फिर उसमें अनुयोगद्वारोंकी 'सुमहार्थ विवरण' रूप पंजिका और महावंध, दोनों रचनाओंके समाविष्ट होनेकी आशा करना तो बिलकुल ही अयुक्तिक ठहरता है। यथार्थतः तो वह दो सौ पत्रोंका कुल ग्रन्थ तेईस या चौबीस हजार श्लोक-प्रमाण सिद्ध होता है, जो उक्त सत्कम पंजिकाका ही परिमाण अनुमान किया जा सकता है।

यही आशंका मुझे धवलाके द्वितीय भागकी प्रस्तावना लिखते समय उत्पन्न हुई थी, किन्तु उस समय उसका आवरण करके प्रस्तावनाके पृष्ठ ३२ पर मैंने केवल इतना संकेत कर दिया था कि "प्राप्त अवतरण परसे महाधवलकी प्रति व उसके विषय आदिके सम्वन्धमे अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं और प्रतिकी परीक्षा करनेकी बड़ी अभिलाषा उत्पन्न होती हैं"। इत्यादि।

इस निराशाके अंधकारमे आशारूपी प्रकाशकी एक चिनगारी मुझे एक जनःश्रुति परसे आती है। कुछ वयोवृद्ध लोगोंसे ऐसा भी सुना गया है कि मूडबिद्रीमे सिद्धान्तग्रन्थोंकी प्रतियां तीन नहीं, चार हैं, जिनके नाम धवल, जयधवल, महाधवल और विजयधवल कहे जाते हैं। यदि इस किंवदन्तीमे कुछ तथ्यांश हो तो उस चौथी प्रतिमे महावंधके होनेकी आशाकी जा सकती है।

लेखका साराश

इस लेखका साराश यह है कि श्रीपट्खडागमके पाच खड श्रीधवलमें ग्रथित हैं और छठा खण्ड महाबन्ध स्वय भूतबलि आचार्य द्वारा विस्तारसे रचित स्वतत्र प्रस्तकारूढ (?) कहा गया है। अब तक हम सबकी यह आशा रही है कि मूडबिद्रीके सिद्धान्तभवनमें जो महाधवलकी प्रति सुरक्षित है, उसीमे महाबध खण्ड विद्यमान है। किन्तु उस महाधवलका प्रतिका जो कुछ परिचय अब तक बाहर आया है उसपरसे आशका होती है कि सम्भवत उसमे महाबध खण्ड न होकर केवल वीरसेनाचार्य द्वारा धवला में रचित शेष अठारह अनुयोगद्वारोंकी एक पजिकामात्र सुरक्षित है। इस निष्कर्ष परसे महाबध ग्रन्थकी सत्ताके विषयमें बडी आकुलता हो उठी है। अतएव मूडबिद्री सिद्धान्त भवनके सरक्षकोंसे प्रार्थना है कि वे दो चार अधिकारी विद्वानोंस महाधवलकी जाच कराकर इस आशका और आकुलताका शीघ्र निवारण करनेकी कृपा करें। यदि उक्त प्रति में सचमुच ही महाबध नहीं है तो यह भी खोज की जानी चाहिये कि क्या और किसी प्रतिमें वह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विद्यमान है। हमारी साहित्यिकनिधि हमारे प्रमादसे बहुत खोई गई है, किन्तु अब इस ग्रन्थरत्नका खोया जाना समझदारों को बहुत दुखकर होगा।

आशका और आशा, दोनों सिद्ध होते दिखाई देते हैं।

महाबन्ध सबधी इस विषयकी महत्ताके ख्यालसे इस लेखका साराश तुरत जैन साप्ताहिक पत्रोंमें प्रकाशित करा दिया गया था। उस लेख पर मुझे विषयक जानकार विद्वानोंके जो अभिप्राय मिले उनसे मेरी आशकाकी पूर्णतया पुष्टि हुई। पडित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने तारीख ४ ११ ४० के पत्रमे मुझे सूचित किया 'मेरी तो बहुत पहलेसे यह धारणा है कि महाधवलमें महाबध नामका छठा खड शामिल नहीं है।' मूडबिद्रीमे प० लोकनाथ जी शास्त्रीने अपने तारीख ८ ११ ४० के पत्र द्वारा सूचित किया कि 'इसका (महाधवलका) प्रारभिक भाग आदि देखने पर ज्ञात होता है कि यह महाबध खड न होकर केवल वीरसेनाचार्य द्वारा रचित धवलाके शेष अठारह अधिकारों की पजिकामात्र है।" शास्त्रीजीने अपने पत्रके साथ महाधवलके कुछ और भी अवतरण भेजनेकी कृपा की जो उनके पास पहलसे नोट थे। उनसे मुझे और भी उक्त बातका निश्चय हो गया क्योंकि ये अवतरण निबधन अधिकारके आगे प्रक्रम और उपक्रम अधिकारोंके हैं जिनका धवलामे ठीक मिलान बैठ जाता है। किन्तु ग्रथके अन्तकी सीमाका कुछ भी परिचय प्राप्त न होने से मुझे तथा उक्त दोनों विद्वानोंको यह आशा लगी हुई थी कि अन्तकी ओर सभवत महाबध हो? अब मुझे मूडबिद्रीसे भट्टारक स्वामी तथा मठके पचोंकी ओरसे तार द्वारा, और फिर प० लोकनाथजी

तथा भट्टारकस्वामीके पत्रों द्वारा यह सूचना मिली है कि मेरे लेख से चिन्तित होकर महाधवल प्रतिकी अनेक स्थानीय विद्वानोंसे देखरेख कराई गई जिसके फलस्वरूप ज्ञात हुआ है कि "ताडपत्रके पत्र २७ तक सत्कर्मपंजिका समाप्त हुई है, उसके बाद महाबंध प्रकरण है। उसमे प्रकृत्यादि चार बंधविधान हैं।"

इस प्रकार हमारी आशंका और आशा दोनों सिद्ध होती दिखाई देती हैं। इस विषयके निर्विवाद निर्णयके लिये मैंने सिद्धान्त ग्रन्थोंके अधिकारियोंसे महाधवलके कुछ आदि, मध्य और अन्तके सुविस्तृत अवतरण भेजनेकी प्रार्थना की है। यह अत्यन्त हर्ष और संतोषकी बात है कि इस विषयमें भट्टारक चारुकीर्त्तिजी स्वामी तथा मठके अन्य सब पंचगण बड़ी रुचि और उदारता दिखा रहे हैं, तथा मुझे उनकी ओरसे सहयोगका पूर्ण आश्वासन मिल रहा है। सब कार्य काललब्धिसे सफल होते है।

श्रीयुत प्रोफेसर हीरालालजी का 'श्रीमहाधवलमें क्या ?' यह शीर्षक लेख मुझे मूडबिद्री में पढ़ने को मिला। उस समय वहां पर इसकी काफी चर्चा भी थी। अपने भाग्योदय से श्रद्धेय भट्टारकजी एवं पंचों के सदिच्छानुसार स्थानीय अन्य विद्वानों के साथ मुझे भी उक्त ग्रन्थरत्न को देखने का सुअवसर मिला जिसका परिणाम प्रोफेसर साहब ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। प्रोफेसर हीरालालजी के इच्छानुसार महाधवल के आदि, मध्य और अन्त के अवतरण भी मेरे सामने ही मूडबिद्री से अमरावती भेज दिये गये थे। अब इस विषय का निर्विवाद निर्णय हो जाना चाहिये। बल्कि बड़े हर्ष की बात है कि मेरी प्रेरणा एवं भट्टारकजी तथा पंचों की असीम उदारता से पं० लोकनाथजी शास्त्री एवं पं० नागराजजी शास्त्री धवला के मुद्रित दो खंडों का मिलान मूल प्रतियों से कर के पाठभेदादि को मेरे सामने ही अमरावती भेज चुके थे। आगे का अर्थात् तीसरे खंड का काम भी चालू रहा। इतना ही नहीं, धवलादि ग्रन्थों के ताड़पत्र सम्बन्धी प्रतियो के रक्षादारु पर जो सुंदर रंगीन चित्र थे उन का फोटो भी मैंने प्रोफेसर हीरालाल जी के पास भिजवाया है। मैं आशा करता हूं कि इन चित्रों को भी प्रोफेसर साहब धवला के आगे के किसी खंड मे अवश्य स्थान देंगे। इन सब बातों को ज्ञात कर समाज को आशातीत संतोष होना स्वाभाविक है।

—के० भुजबली शास्त्री

मंत्रशास्त्र का एक अलभ्य जैनग्रन्थ

(लेखक—श्रीयुत अगरचंद नाहटा, स० "राजस्थानी")

विविध तीर्थकल्प के रचयिता सुप्रसिद्ध खरतरगच्छीय श्रीजिनप्रभसूरिजी† ने अपनी 'अनुयोगचतुष्टय व्याख्या' नामक लघुकृति में अपने रहस्यकल्पद्रुम" नामक ग्रन्थ का उल्लेख इन शब्दों में किया है —

परदमहासमतुल्ल वज्जोपीरेण भाविय बहुसो ।
निग्गीनोयरपक्क हवंइ कडुजल सव्व ।
आम्नायस्त्वय 'रहस्यकल्पद्रुमे'ऽस्माभि प्रकटित 'इति द्रव्यानुयोग ॥३॥
(अनेकार्थरत्नमजूषा पृ० १३०)

पर खेद है कि अभी तक इस उत्तम ग्रन्थ का कहीं पता नहीं लगा। बीकानेर बृहद् ज्ञानभंडार के फुटकर मंत्रसंग्रह के पत्रों में चार पत्रों की एक प्रति है उसमें इस रहस्य कल्पद्रुम' का कुछ अंश उद्धृत किया पाया जाता है जिससे मूलग्रन्थ के विषयादि की कुछ झाँकी मिल जाती है। पाठकों के अवलोकनार्थ उन पत्रों की आवश्यक नकल यहाँ दी जाती है —

'भट्टारकश्रीजिनप्रभसूरिकृतरहस्यकल्पद्रुममध्यात् प्रयोगा दृष्टप्रत्यया लिख्यन्ते ॥
'ॐ नमो अरि अरिणमोहिणि मोहय २ स्वाहा' अर्हदायतने जाप्य ।

१०८ इति पूवसवा, लाभाय नित्य जाप १०८ ।१। अनेनाभिमन्त्र्य यद्वस्तु दीयते तेनेस्त्रीपुरुषवश्यता ।२। अनेनैव सप्तकृत्व एकविंशतिक्करे क्षीरतरु आहत्य पुरे प्रवेशे सत्र लाभ ।३। अनेनैव पात्राणि वार २१ अभिमन्त्र्यते भिक्षालाभ ।४।

(=ॐ ह्रीं कपालेश्वरीय (?) भिक्षा मे देहि २ हु फट् स्वाहा वार ७ अनेन मंत्रेण पात्रा(णि) मत्रयेत् भिक्षा प्रचुर पतिते (?) ॥५॥

ॐ सिद्धि घटा टका जीमूत स्वाहा। एन मत्र भणद्भि चौरवृक्ष कर्करैहन्यते प्रदक्षिण भ्रमद्भि वार २१ ग्राममध्ये प्रविष्टाना स्नान गौरव विलेपन भोजन वसनादि नगरेभ्यो भवति ॥

---

†आप का ऐतिहासिक चरित्र हमारे लिखित, जिनविजय जी सम्पादित सूरि जी रचित ' 'विधिप्रवर" ग्रन्थ में शीघ्र ही प्रकट होने वाला है।

ॐ अनद्ये कामाय स्वाहा ॥ एनं मंत्रं भणद्ग्रामप्रवेशे सप्तभिः जलचुलुकाभिः किंचिद्वनस्य तीर्लंट्यते (?) मध्ये गतो भोजनादिः ।

ॐ नमो माणिभद्राय ह्रीं किणि २ स्वाहा ॥ वार ३२ अभिमंत्र्य दंतकाष्ठं क्रियते अशनादिलाभः ॥

ॐ ह्रीं श्री क्लीं व्लूं ग्लूं गणपति वरवरद विश्वं मम वश्यमानयानय स्वाहा ॥ दिन प्रति वार १०८ जप्यते लाभ ।

ॐ ह्रीं असिआउसा अनाहत विद्योर्हं नमः ॥ लाभ मंत्र. ॥

ॐ ह्रीं चरेसुचरे असिआउसाय नमः वार १०८ प्रभाते स्मरणं धनलाभ. ।

ॐ नट्ठट्ठमयठाणे पणट्ठकम्मट्ठनट्ठसंसारे, परिमिट्ठानट्ठियट्ठे, *अट्ठगणा धीसरेवंदे ।१। अनया विद्ययाश्वादिक्रयाणक ? वार २१ऽ१०८ अभिमंत्र्यते विक्रयो भवति ॥

ॐ क्षादेवदत्तय २ अलक्तकेन यावंति नामानि लिखित्वा आसनस्याधो मुच्यते तावति वशी ॥

णमो विउव्विरिद्धिपत्ताणं, दिन २८ जाप काम्यवस्तूनि प्राप्यंते ॥

विद्यामंत्र—ॐ ह्रीं श्रीं अर्हंवद २ वाग्वादिनि भगवति सरस्वती ह्रीं नमः ॥ लक्ष जापात्सिद्धिः ॥

दृष्ट्वा सभमकारिवस्तु० ? इदं काव्यं वारत्रयं भणित्वास्योपरि हस्तवाहना वचोमोना ।(?)

ॐ ह्रीं ऐं क्लीं नमः । ए जीमइं माम्नि पहिलुं लिखीजैपछै पांणी सुं पाइयें ग्रहण दिनै ॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं व्लूं ह्स्क्ल्ह्रीं ऐंवद वद वाग्वादिनि भगवति सरस्वति ह्रीं नमः ॥ ए मूल शुद्ध मंत्र. १२००० जापः पंचामृतहोमः शारदा वरदायिनी भवति ॥

ॐ मञ्ज श्रीकुमारदूताय बोधिसत्वाय महासत्वाय कारुणिकाय तद्यथा किरि २ पि हिगे स्वाहा ॥ सप्त चुलुकान् मंत्रयित्वा पिवेन् । सप्ताहेन सकृत दु शास्त्रं समायाति ॥

ॐ ह्रीं श्री सूर्याय नमः । समलक्षाणि यो विद्यां मायायेकाक्षरं जपेन् तस्य सिद्ध्यंति वागीशा. पुष्पैरिंदुसमप्रभः ॥१॥ ॐ जंभे मोहेव सुमत्ति सुमगे स्वाहा । वार ७ऽ२१ वस्त्रमभिमंत्र्य परिधापनं सौभाग्यं भवति ॥

इसके वाद "अथ पद्मावतीसाधनमंत्र' लिख्यते" लिखा है। अतः संभव है रहस्य कल्पद्रुम का उद्धरण ऊपर के अंश तक का ही होगा ।

---

* अट्ठगणाधीसरी वंदे (पाठा०) ।

प्रस्तुत चार पत्रों वाली प्रति सं० १९०० के लगभग की ही लिखी हुई है। अत बहुत सभव है लेखक ने ग्रन्थ को देख कर ही उससे नकल की होगी। अतएव खोज करने पर मूलग्रन्थ कहीं (किसी भंडार में) अवश्य मिल जायगा। शोध खोज प्रेमी विद्वानों से अनुरोध है कि यदि कहा इस ग्रन्थ की प्रति उन्हें उपलब्ध होजाय तो मुझे सूचित करने की कृपा करें।

यद्यपि जैनमुनियों को तत्र मत्र, औषधादि का उपयोग करने का मूल जैनागमों में निषेध है, पर मध्यकाल में काफी प्रचार हुआ है दि० मत्रसाहित्य के कुछ ग्रन्थो का उल्लेख प० भुजबलीजी ने अपने "जैनमत्रशास्त्र लेख में किया है। श्वेताम्बर समाज म भी मत्र साहित्य काफी उपलब्ध है जिनके विषय में फिर कभी प्रकाश डाला जायगा।

नाहटाजी का यह लेख मेरी अनुपस्थिति में कम्पोज हुआ है। इस "रहस्यकल्पद्रुम" ग्रन्थ की नहटाजी ने तारीफ भी की है। पर ग्रन्थ के उद्धरणों को देखने से इसकी उत्तमता में सदेह होता है। या फिर यथार्थनिर्णय इसकी शुद्ध प्रति मिलने पर ही होसकता है। यह प्रति तो अशुद्धियों से भरी पड़ी है।

—के० भुजबली शास्त्री

विविध-विषय

(१)

'भास्कर' की वात

'भास्कर' अपने जन्मकाल से त्रैमासिकरूप में प्रकट होकर ज्ञान का प्रकाश करता आया है। उसका उद्देश्य एक मात्र जैन-महिमा को प्रकाशित करना है। उसके संचालक और सम्पादक केवल धर्मभाव और साहित्य-लगन से प्रेरित होकर उसकी सेवा करने में तल्लीन हैं— किसी का कोई निजी स्वार्थ नहीं है। परमार्थ-प्रकाश ही उनका स्वार्थ है—ज्ञानविनय के इस सच्चे साधन से वे अपनी आत्मतुष्टि कर रहे हैं। 'भास्कर' भी ज्ञानोद्योत में अग्रणी होता आया है; परंतु हमें यह प्रकट करते हुए दुःख होता है कि जैनियों ने अपने 'भास्कर' को वैसा नहीं अपनाया जैसा उन्हे अपनाना चाहिये। हम जानते हैं और मानते हैं कि 'भास्कर' के लेख गंभीर और नीरस होते हैं; परन्तु ज्ञान-मार्ग ही ऐसा है। ज़ाहिरा वह नीरस है, परन्तु जिन्हें ज्ञानरस का स्वाद मिल गया है उनके लिये वह अत्यन्त सरस है। आज यदि जैनी 'भास्कर' जैसे ज्ञान-रस से ओतप्रोत वीर-संदेश-वाहक और उद्योतक पत्र को नही अपनाते हैं, तो यही समझना चाहिये कि उनमे ज्ञान-रसके रसिको का वाहुल्य नहीं है। यदि यह अनुमान ठीक है तो जैनियो के लिये यह स्थिति भयानक है। याद रखिये, ज्ञान ही जीवन है—ज्ञान ही प्रकाश है और ज्ञान मे ही अमरत्व है। जैनजीवन के लिये ज्ञान का प्रसार जैन जनता मे अधिकाधिक होना आवश्यक है। 'भास्कर' इस ज्ञान प्रसार में निरन्तर सहायक रहा और रहेगा। उसके पाठक यदि अधिक होंगे तो वह भी धर्म और संघ की सेवा अधिक कर सकेगा। यदि इसके पाठक और ग्राहक अधिक नहीं होंगे तो भी समुदार सञ्चालक महोदय की दानशीलता से वह ज्ञानोद्योत का पुण्य प्रयत्न करता रहेगा। आज योरप के महायुद्ध ने जीवन के प्रत्येक भाग में संकट उपस्थित कर दिया है। भारत का पत्र-संसार भी इस संकट से मुक्त नही है। 'भास्कर' भी उसके भयानक प्रभाव से अछूता कैसे रहे? एक ओर परिमित ग्राहक संख्या—दूसरी ओर कागज़, स्याही आदि के बढ़ते हुए दाम; ऐसी स्थिति में 'भास्कर' अपने जीवन को स्थिर रख सके, यही वड़ी वात है! हठात सञ्चालक महोदय की दानशीलता ने उसे जीवित रक्खा है! इस उदारता के लिये 'भास्कर-मंडल' संचालक महाशय का आभारी है। परन्तु इस संकटकाल मे 'भास्कर' अव एक वर्ष में चार वार दर्शन न देकर केवल दो वार ही प्रकट होगा—वह त्रैमासिक से अर्द्धवार्षिक होगा! इस संकट के व्यतीत होने पर अथवा वीच मे ही यदि पाठकों का काफी सहयोग मिला तो 'भास्कर' अपने पूर्वरूप पर आ जायगा। आशा है, पाठकगण हमारी असमर्थता का ध्यान रखकर 'भास्कर' को उन्नत वनाने के लिये पूरा सहयोग देंगे। —कामता प्रसाद

(२)

यों तो इधर अर्से से मैं पारिवारिक झंझटों से अधिक घिरा रहा। इधर ४, ५ महीनों से इसकी मात्रा बढ़ गई है। अभी भी मेरा एकमात्र पुत्र यकृद्रोग से पीडित है। जब आरा एवं पटना के नामी वैद्य एवं डाक्टरों के इलाज से कोई लाभ नहीं हुआ तब उन्हीं की सलाह से खास कर जलवायु परिवर्तन के लिये बालक को मुझे देश ले जाना पड़ा। अभी भी वह वहां पर अस्वस्थ ही है। इस अनिवार्य कारण से दिसम्बर की किरण कुछ विलम्ब से आपलोगों की सेवा में भेजी जा रही है। मैं इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूं। मुझे दृढ आशा है कि आगे ऐसा नहीं होगा। 'भास्कर' की पिछली प्रत्येक किरण यथासमय पाठकों की सेवा में पहुचती रही है। इसलिये मेरा विश्वास है कि नाममात्र का यह विलम्ब आपलोगों को नहीं खटकेगा।

(३)

इसी किरण में प्रकाशित एक निवेदन से विज्ञ पाठकों को भास्कर' की आर्थिक स्थिति का ज्ञान हुआ ही होगा। कारणवश इसका संकेत कुछ समय पूर्व बम्बई विश्व विद्यालय के रिसर्च स्कॉलर, सुयोग्य विद्वान श्रीयुत उमाशंकर प्रेमचन्द शाह एम० ए० बरोदा को करना पड़ा। उक्त महोदय ने अपने एक मार्मिक पत्र के साथ तुरन्त ही 'भास्कर' के लिये सहायता के रूप में १०) रुपये भेज दिये। देखिये—एक जैनेतर विद्वान् का जैन साहित्यप्रेम। जहाँ हमारे लक्षाधीश तक 'भास्कर' के केवल चार रुपया की वी० पी० लौटाने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं, वहाँ पर इन जैनेतर विद्वान् की उदारता उल्लेखनीय है। क्या अपने को समाज का कर्णधार समझनेवाला जैन धनिकवर्ग इससे शिक्षा लेगा ?

—के० भुजबली शास्त्री

साहित्य-समालोचना

(१)

मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि

लेखक—अगरचन्द नाहटा और भंवरलाल नाहटा; प्रकाशक—शंकरदान शुभेराज नाहटा, नं० ५/६ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता; पृष्ठ ७६+४; मूल्य दो आने; संवत् १९९७।

इस छोटी सी रचना में नाहटाबन्धुओं ने सुयोग्य विद्वान् श्रीजिनचन्द्रसूरि का जीवन-चरित आकर्षक शैली मे अंकित किया है। चरित्र बड़े परिश्रम से लिखा गया है। इस ऐतिहासिक कृति का मुख्य आधार जिनपालोपाध्याय-रचित 'गुर्वावली' है जो कि पुरातत्त्व के पण्डित श्रीजिनविजयजी के द्वारा संपादित होकर 'सिंघीग्रन्थमाला' की ओर से प्रकाशित होने जा रही है। प्रस्तुत चरित्र संक्षिप्त होते हुए भी प्रामाणिक है। इसमे परिशिष्टरूप में सूरि जी की एकमात्र कृति 'व्यवस्थाकुलक' भी सानुवाद दिया गया है। वास्तव में नाहटा-बन्धुओ का यह परिश्रम प्रशंसनीय एव अनुकरणीय है।

(२)

गौरवगाथा

लेखक—अयोध्या प्रसाद गोयलीय; प्रकाशक—मंत्री, जैन संघटन सभा, पहाड़ी धीरज, देहली, पृष्ठ सं० २०; मूल्य चार पैसा; सन् १९४०।

इस ऐतिहासिक रचना मे सिद्धहस्त अनुभवी लेखक ने वीरसेनाचार्य, कालकाचार्य, राजा हरसुख राय और सेठ सुगनचन्द इन चार आदर्श व्यक्तियो का अनुकरणीय जीवनचरित्र अङ्कित किया हैं। अपने पूर्वजों की गौरवगाथाओं से परिचित होने के लिये यथार्थ मे ऐसी रचनाएं बड़े काम की चीजें है। श्री गोयलीय जी की सजीव लेखनी मे बल है, उत्साह है। मै आशा करता हूं कि प्रत्येक नवयुवक इसे मंगा कर एकवार अवश्य पढ़ेगे।

(३)
एकीभाव स्तोत्र (सटीक)

अनुवादक और सपादक—प० परमानन्द जैन शास्त्री, पृष्ठ स० ५१, मूल्य तीन आने, सन् १९४०।

आचार्य वादिराजकृत यह स्तोत्र जैन समाज में विश्रुत है और इस के कई सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत सस्करण में भट्टारक श्रीचन्द्रकीर्ति कृत सस्कृत टीका, प० भूधर दासकृत पद्यानुवाद एव प० परमानन्द शास्त्रीकृत हिन्दी अनुवाद ये तीनों सम्मिलित कर दिये गये हैं इसलिये अधिक उपयोगी है। साथ ही साथ प्रारम्भ म विद्वान् सम्पादक के द्वारा परिश्रम स लिखी गई प्रस्तावना ने भी इस सस्करण की उपयोगिता को बढाया है। साराशतया सस्करण सर्वथा उपादेय है।

(४)
बृहत्स्वयभूस्तोत्र

सम्पादक—वे० लोकनाथ शास्त्री, प्रकाशक—श्रीवीरवाणीग्रन्थमालासमिति, मूडबिद्रि, पृष्ठ सख्या १०१, मूल्य छ आने, सन् १९४०।

यह श्रीसमन्तभद्राचार्य रचित सुप्रसिद्ध 'बृहत्स्वयभूस्तोत्र' का कनड अनुवाद है। अनुवाद अच्छा है। श्लोक बहुत छोटे टाइपों म दिये गये हैं यह थोडा खटकता है। ग्रथकर्त्ता के परिचय को विशद कर दिया जाता तो और सुन्दर होता। कागज, मुद्रण आदि सन्तोषप्रद हैं।

(५—६)
कथामजरी

लेखक—प० देवीदयाल चतुर्वेदी, 'मस्त', प्रकाशक—सरल-जैन ग्रन्थ माला, जबलपुर, पृष्ठ स० ३५+३८, मूल्य प्रथम भाग का ढाई आने और द्वितीय भाग का तीन आने, सन् १९४०।

कथामजरी के दोनों भागों में जैनधर्म की बालोपयोगी कई सुन्दर एव सचित्र कथाएँ दी गई हैं। वास्तव में धार्मिक भावनाओं को जगाने के लिये ऐसी सरल और रोचक कथाएँ बहुत ही उपयोगी साधन हैं। इस उपयोगी साधन से हमारे पूर्वज भलीभाति परिचित थे। हा, यह बात सत्य है कि जैन समाज म समयानुकूल रोचक ढग स लिखी हुई सचित्र कथाओं का अभाव था। सरल-जैन-ग्रन्थमाला ने इस ओर कदम बढा कर जैनसमाज का अनुकरणीय सेवा उपकार किया है। बालकों के कल्याणेच्छु सरक्षक बालोपयोगी इन पुस्तकों को खरीद कर प्रकाशक के उत्साह और बालकों के ज्ञान साधन को अवश्य बढायेंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए एन उपाध्ये

गंगातरंगिणीए उभयतडवेदियाण वणसंडा ।
अत्तुट्टसरूवेण सप्पत्तरजदसेलंत ॥२३४॥
वरवज्जकवाडाणं सवरणपवेसणाइं मुत्तूण ।
सेसगुहब्भंतरए गंगातडवेदिवणसंडा ॥२३५॥
रुप्पगिरिस्स गुहाए गमणपदेसम्मि होदि वित्थारो ।
गंगातरंगिणीए अट्ठ त्ति य जोयणाणि पुढं ॥२३६॥
विजयड्ढगिरिगुहाए सगतूण जोयणाणि पुणुवीस ।
पुव्वावरा णईओ[1] उम्मग्गणिमग्गसरिआओ ॥२३७॥
णियजलपवाहपडिदं दव्वं गरुअं पि णेदि[2] उवरिम्मि ।
जम्हा तम्हा भणणइ उम्मग्गा वाहिणी एसा ॥२३८॥
णियजलभरउवरिगदं दव्वं लहुगं पि णेदि हेट्ठम्मि ।
जेणं तेण भणणइ एसा सरिया णिमग्ग त्ति ॥२३९॥
सेलगुहाकुंडाणं मणितोरणदारणिस्सरतीओ ।
वज्जमयरणविणिम्मियसंकमपत्तुवी य वित्थिण्णा ॥२४०॥
वणवेदीपरिखित्ता पत्तेक्कं दोण्णि जोयणायामा ।
वररयणमया गंगाणइस्स पवहम्मि पविसंति ॥२४१॥
पण्णासजोयणाइं अधिय गतूण पव्वयगुहाए ।
दक्खिणदिसदारेणं हुमिदा भोगीव णिग्गदा गंगा ॥२४२॥
णिस्सरिदूण एसो दक्खिणभरहम्मि रुंदसेलादो ।
उणवीस सहियसय आगच्छदि जोयणा अधिया ॥२४३॥

११९ । ३ ।

१९

आगतूण णियंतो पुव्वमहीमागधम्मि तित्थवरे ।
चोद्दससहस्ससरियापरिवारा पविसदे उवहिं ॥२४४॥
गंगामहाणईए अड्ढाइज्जेसु मेच्छखंडेसु ।
कुडजसरिपरिवारा हुवंति ण हु वज्जखंडम्मि ॥२४५॥
बासट्ठि जोयणाइं दोण्णि य कोसाणि वित्थरा गंगा ।
पण कोसा[3] गाढत्त उवहिपदेसप्पवेसम्मि २४६॥

1 D णावदाओ; 2 ABS णो; 3 D आगाढत्त।

दीवजगदीयपासे णइविल[1]वदणम्मि तोरणं दिव्वं ।
विविहवररयणखजिदं खंभट्ठियसालभंजियाणिवहं ॥२४७॥
थंभाणं उच्छेहो तेणउदीजोयणाणि तियकोसा ।
पदाण अतरालं बासट्ठी जोयणा दुरेकोसो[2] ॥२४८॥

९३ । को ३ । ६३ । को २ ।

छत्तत्तयादिसहिदा जिणिंदपाडमा य तोरणुवरिम्मि ।
चेट्ठंति सासभाओ सुमरणमेत्तेण दुरिदहरणा ॥२४९॥
वरतोरणस्स उवरि पासादा होंति रयणकणयमया ।
चउतोरणवेदिजुदा वज्जकवाडुज्जलदुवारा ॥२५०॥
एदेसु मंदिरेसुं देवीओ दिक्कुमारिणामाओ ।
णाणाविहपरिवारा वेंतरियाओ विरायंति ॥२५१॥
पउमदहादो पच्छिमदारेणं णिस्सरेदि सिंधुणदी ।
तट्ठाणवासरादो तोरणपहुदी सुरणदिसरिच्छा ॥२५२॥
गंतूण थोवभूमी सिंधुमज्झम्मि होदि वरकूडो ।
वियसियकमलायारो रम्मो वेरुलियणालजुदो ॥२५३॥
तस्स तला अइरित्ता दीहजुदा होंति कोसदलमेत्त ।
उच्छेहा सलिलादो उवरि पएसम्मि इगिकोसा ॥२५४॥
वे कोसा वित्थिण्णो तेत्तिय[3]मेत्तोदएण संपुण्णो ।
वियसंतपउमकुसुमोवमाणसंठाणसोहिल्लो ॥२५५॥
इगि कोसं वे रुंदा रयणमइकण्णियायधीरम्मा ।
तीए उवरि विचित्तो पासादो होदि रमणिज्जो ॥२५६॥
वररयणकंचणमओ फुरंतकिरणो पणासिअंतमो ।
सो उत्तुंगतोरणदुवारसुंदरसुहसोहिल्लो ॥२५७॥
तस्सिं णिलए णिवसइ अवणा णामेण वेंतरा देवी ।
एक्कपलिदोवमाऊ णिरुवमलावण्णपरिपुण्णा ॥२५८॥
पउमदहादो पणुसयमेत्ताइं जोयणाइं गंतूणं ।
सिंधूकूडमपत्तो दुकोसमेत्तेण दक्खिणावलिदो ॥२५९॥
उभयतडवेदिसहिदा उववणसंडेहि सुट्ठु सोहिल्ला ।
गंग व्व पडइ सिंधू जिब्भादो सिंधुकूडउवरिम्मि ॥२६०॥

1 ABS णइविद; 2 ABS दुरेकोसा; 3 AB तत्तिय ।

कुड दीवा सेला भवण भवणस्स उवरिम कूड ।
तस्सि जिणपडिमाओ सव्व पुव्व व वत्तव्व ॥२६१॥
णवार विसेसो वसो सिंधूकूडम्मि सिंधुदेवि त्ति ।
बहुपरिवारेहिं जुदा उवभुजदि विविहसोक्खाण ॥२६२॥
गंगाणइ व सिंधू विजयड्ढगुहाय उत्तरदुवारे ।
पविसिय वेदीजुत्ता दक्खिणदारेण णिस्सरदि ॥२६३॥
दक्खिणभरहस्सद्ध पाविय पच्छिमपभासतित्थम्मि ।
चोद्दससहस्ससरियापरिवारा पविसए उवहिं ॥२६४॥
तोरणउच्छेहादी[1] गगाए वण्णिदा जहा पुव्व ।
सस्सव्व[2] सिंधूए वत्तव्वा णिउणबुद्धीहिं ॥२६५॥
गगासिंधुणइण वेयड्ढणगेण भरहखेत्तम्मि ।
छक्खड सजाद ताण विभाग परूवेमो ॥२६६॥
उत्तरदक्खिणभरहो खडाणि तिण्णि होंति पत्तेक्क ।
दक्खिणतियखडेसु अज्जाखडो त्ति मज्झिमया ॥२६७॥
सेसा वि पच खडा णामेण होति मेच्छखड त्ति ।
उत्तरतियखडेसु मज्झिमखडस्स बहुमज्झे ॥२६८॥
चक्कीण माणमलणो णाणाचक्कहरणामसछण्णो ।
मूलोवरिमज्झेसु रयणमओ होदि वसहगिरी ॥२६९॥
जोयणसयमुव्विद्धो पणुवीस जोयणाणि अवगाढो ।
एक्कसयमूलरुदा पणहत्तरि मज्झवित्थारो ॥२७०॥

१०० । २५ । १०० । ७५ ।

पण्णासजोयणाइ वित्थारो होदि तस्स सिहरम्मि ।
मूलोवरि मज्झेस वेदी ते वेदिवणसडा ॥२७१॥
चउतोरणाहि [3]जुत्तो पोक्खरिणीवाविकूवपरिपुण्णा ।
वज्जिदणीलमरगयकक्केयणपउमरायमया ॥२७२॥
होंति हु वरपासादा विचित्तविण्णासमणहरायारा ।
दिप्पतरयणदीवा वसहगिरिदस्स सिहरम्मि ॥२७३॥
वररयणकचणमया जिणभवणा विविहसुदरायारा ।
चेट्ठ ति वण्णणाओ पुव्व पिव होंति सव्वाओ[4] ॥२७४॥

1 D उस्सेहादी, 2 तस्सव्व (?), 3 जुत्ता (?), 4 सव्वाओ (?) ।

गिरिउवरिमपासादे वसहो णामेण वेंतरो देवो ।
विविहपरिवारसहिदो उवभुंजदि विविहसोक्खाइं ॥२७५॥
एक्कपलिदोवमाऊ दसचावसमाणदेहउच्छेहो ।
वहुवंछो दिहभुंजो एसो सव्वंगसोहिल्लो ॥२७६॥

। छक्खंडं गदं ।

तस्सि अज्ञाखंडे णाणाभेदेहि संजुदो कालो ।
वट्टइ तस्स सरूवं वोच्छामो आणुपुव्वीए ॥२७७॥
पासरसगंधवएणो वदिरित्तो अगुरुलहुगसंजुत्तो ।
वत्तणलक्खणकलियं कालसरूवं इमं होदि ॥२७८॥
कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हुवंति एदेसुं ।
मुक्खाधारवलेणं अमुक्खकालो पयट्टेदि ॥२७९॥
जीवाण पुग्गलाणं हुवंति परियट्टणाइं विविहाइं ।
एदाणं पज्जाया वट्टंते मुक्खकालआधारे ॥२८०॥
सव्वाण पयत्थाणं णियमा परिणामपहुदिवित्तीओ ।
वहिरंतरंगहेदूहि सव्वभेदेसु वट्टंति ॥२८१॥
वाहिरहेदू कहिदा णिच्छयकालो त्ति सव्वदरिसीहि ।
अब्भंतरं णिमित्तं णियणियदव्वेसु चेट्ठेदि ॥२८२॥
कालस्स भिएणभिएणा अएणुएणपवेसणेण परिहीणा ।
पुहपुह लोयायासे चेट्ठंते संचएण विणा ॥२८३॥
समयावलिउस्सासा पाणा थोवा य आदिया भेदा[1] ।
ववहारकालणामा णिद्दिट्ठा वीयराएहि ॥२८४॥
परमाणुस्स णियट्ठिदगयणपदेसस्स दिक्कमेणत्तो ।
जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो ॥२८५॥[2]
होंति हु असंखसमया आवलिणामो तहेव उस्सासो ।
संखेज्जावलिणिवहो सो चेय[3] पंणो[4] त्ति विक्खादो ॥२८६॥

१ । १ । १ ।
२ ६

सत्तुस्सासो थोवं सत्तत्थोवायलि त्ति णादव्वो ।
सत्तत्तरिदलिदलया णाली वे णालिया मुहुत्तं च ॥२८७॥

1 AB भेदो; 2 Mss. have a confusion in numbers. 3 AB चेयण; 4 पाणो (?)

१।७।७७।१
७ १ २

समऊणेक्कमुहुत्तं भिण्णमुहुत्तं मुहुत्तया तीस।
दिवसो पण्णरसेहिं दिवसेहिं पक्खपक्खो हु ॥२८८॥

दो पक्खेहिं मासो मासदुगेण उडू उडुत्तिदय।
अयणं अयणदुगेण वरिसो पंचेहि वच्छरहिं जुगं ॥२८९॥

माघादी होंति उडू सिसिरवसंतानिदाघपाउसया।
सरओ हेमंता वि य णामाइं ताण जाणिज्ज ॥२९०॥

बेणिण जुगा दस वरिसा ते दसगुणिदा हवदि वाससदं।
एदेसिं दसगुणिदे वाससहस्सं वियाणेहि ॥२९१॥

दस वाससहस्साणि वासम्हस्सम्मि दसहदं होंति।
तहिं दसगुणिदेहिं लक्खं णामेण णादव्वं ॥२९२॥

चुल्सीदिहदं लक्खं पुव्वंग होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदीलक्खेहिं णादव्वं पुव्वपरिमाणं ॥२९३॥

पुव्वं चउसीदिहदं णिउदंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदीलक्खेहिं णिउदस्स पमाणमुद्दिट्ठं ॥२९४॥

णिउदं चउसीदिहदं कुमुदंगं होदि तं पि णादव्वं।
चउसीदिलक्खगुणिदं कुमुदं णामं समुद्दिट्ठं ॥२९५॥

कुमुदं चउसीदिहदं पउमंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदिलक्खयासेहिं पउमं णामं समुद्दिट्ठं ॥२९६॥

पउमं चउसीदिहदं णलिणंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदिलक्खरासिं णलिणं णामं वियाणाहि ॥२९७॥

णलिणं चउसीदिगुणं कमलंगं णामं तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदिलक्खेहिं कमलं णामेण णिद्दिट्ठं ॥२९८॥

कमलं चउसीदिगुणं तुडिदंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदिलक्खेहिं तुडिदं णामेण णादव्वं ॥२९९॥

तुडिदं चउसीदिहदं अडडंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदिलक्खेहिं अडडं णामेण णिद्दिट्ठं ॥३००॥

अडडं चउसीदिगुणं अममंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदिलक्खेहिं अममं णामेण णिद्दिट्ठं ॥३०१॥

अममं चउसीदिगुणं हाहंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदीलक्खेहिं हाहाणामं समुद्दिट्ठं ॥३०२॥
हाहाचउसीदिगुणं हूहंगं होदि तं पि गुणिदव्वं ।
चउसीदीलक्खेहिं हूहूणामस्स परिमाणं ॥३०३॥
हूहूचउसीदिगुणं एक्कलदंगं हुवेदि गुणिदं तं ।
चउसीदीलक्खेहि पदिमाणमिदं लदाणामे ॥३०४॥
चउसीदीहदलदाए महालतांगं[1] हुवेदि गुणिदं तं ।
चउसीदीलक्खेहिं महालदाणाममुद्दिट्ठं ॥३०५॥
चउसीदिलक्खगुणिदा महालदादी हुवेदि सिरिकंपं[2]
चउसीदिलक्खगुणिदं तं हत्थपहेलिदं णाम ॥३०६॥
हत्थपहेलिदणामं गुणिदं चउसीदिलक्खवासेहिं ।
अचलप्पणाम[3] चेओ कालं [4]कालाणुवेदिणिद्दिट्ठा ॥३०७॥
एक्कत्तीसट्ठाणे चउसीदि पुहपुहट्ठवेदूणं ।
अण्णोण्णहदे लद्धं अचलप्पं होदि णउदि[5]सुण्णंगं ॥३०८॥

८४ । ३१ । ९० ।

एवं सो कालो संखेज्जो वच्छराण गणणाए ।
उक्कस्सं सखेज्जं जावलते वं [6]पवत्तं उ (?) ॥३०९॥
वयण ।

एत्थ उक्कस्ससंखेज्जयं जाण णिमित्तं जंबूदीववित्थारं सहस्सजोयणउवेदपमाणचत्तारि-सरावयं कादव्वा सलागपडिसलागा महासलागा एदे तिण्णि वि अवट्ठिदा[7] चउत्थो अणवट्ठिदा एदे सव्वे पण्णाए ठविदा एत्थ चउत्थसरावयअब्भंतरे दुवे सरिसवेत्थुदे तं जहण्णं संखेज्जयं जादं एदं पढमवियप्पं तिण्णि सरिसवेत्थूदे [8]अजहण्णमणुक्कस्ससंखेज्जयं एवं सरावए पुणो । एदमुवरिमज्झिमवियप्पं पुणो [9]भरिदसरावया देउ वा दाणउ वा हत्थे घेत्तूण दीवे समुद्दे एक्केक्कं सरिसवंदे य सो णिट्ठिदो तक्काले सलायअब्भंतरे एगसरिस-उत्थूदा जं हि सलाया सम्मत्ता तं हि सरावउ वड्ढारेयंतु तं भरिदूण हत्थे घेत्तूण दीवे समुद्दे णिट्ठिदव्वा जं हि णिट्ठिद तं हि सरावयं वड्ढावेयव्वं सलायसरावए सरिसवत्थूदे एदा

1 लदंगं (?); 2 B S सिरकंपं (कप्पं ?); 3 D अचलप्पं णामदुओ; 4 D कालं कालाउ हवेदि णिद्दिट्ठा; 5 D णवदि; 6 D पवत्तेओ; 7 B S अवट्ठिदो; 8 D आजहण्ण; 9 D भरिदि ।

पदेसा चत्तारि वि लोगागासमेत्ता पत्तेगसरीरबादरपदिट्ठिय पदे दो वि किंचूणसायरोवमं विरलेदूण विभगं कादूण अण्णोण्णब्भत्थे रासिपमाणं होदि। छक्किपदे असंखेज्जरासीओ पुव्विल्लरासिस्स उवरि परिकविदूण[1] पुव्वं व तिण्णिवारवग्गिदे कदे उक्कस्सअसंखेज्जा संखेज्जयं[2] ण उप्पज्जदि[3] तदा ठिदिबंधठाणाणि ठिदिबंधज्झवसाणठाणाणि कसायोदयट्ठाणाणि अणुभागबंधज्झवसाणठाणाणि योगपलिच्छेदाणि उसप्पिणिओसप्पिणीसमयाणि च पदाणि पक्खिविदूण पुव्वं व वग्गिदसंवग्गिदं कदे तदो उक्कस्सअसंखेज्जासंखेज्जयं जम्हि असंखेज्जासंखेज्जयं वग्गिज्जदि तम्हि तम्हि य जहण्णमणुक्कस्सआसंखेज्जासंखेज्जयं घेत्तव्वं, कस्स विसओ, ओधिणाणिस्स। छ।

उक्कस्स असंखेज्जे अवराणंतो हुवेदि रूवजुदे।
तत्तो वड्ढदि कालो केवलणाणस्स परियंतं ॥छ॥

जं तं तं तिविहं परित्ताणंतयं जुत्ताणंतयं अणंताणंतयं चेदि जुत्तपरित्ताणंतयं तं तिविहं जहण्णपरित्ताणंतयं अजहण्णमणुक्कस्सपरित्ताणंतयं उक्कस्सपरित्ताणंतयं चेदि[3] जं तं जुत्ताणंतयं तं तिविहं जहण्णजुत्ताणतयं अजहण्णमणुक्कस्सजुत्ताणंतयं उक्कस्सजुत्ताणंतयं चेदि जं तं अणंताणंतयं तत्तिविधं जहण्णमणंताणंतयं अजहण्णमणुक्कस्सअणंताणंतयं उक्कस्सअणंताणंतयं चेदि जं तं जहण्णपरित्ताणंतयं विरलेदूण एक्केक्कस्स रूवस्स जहण्णपरित्ताणंतयं दादूण अण्णोण्णब्भत्थेक्कदे उक्कस्सपरित्ताणंतयं अधित्थिदूण जहण्णजुत्ताणंतयं गंतूण पडिदं एवदिओ अभवसिद्धियरासी तदा एगरूवे अवणिदे जादं उक्कस्सपरित्ताणंतयं तदा जहण्णजुत्ताणंतयं सयं वग्गिदं उक्कस्सजुत्ताणंतयं अधिच्छिदूण जहण्णमणंताणंतयं गंतूण पडिदं तदा एगरूवे अवणिदे जादउक्कस्सजुत्ताणंतयं तदा जहण्णमणंताणंतयं पुव्वं वग्गिदसंवग्गिद कदे उक्कस्सअणंताणंतयं ण पावदि सिद्धा णिगोदजीवा वणप्फदी कालो य पोग्गला चेव सव्वं वमलोगागासं थ(छ)प्पेदि णंतप्पवखेवा ताणि पक्खिवदूण पुव्वं व तिण्णिवारे वग्गिदसंवग्गिदं कदे तदा उक्कस्सअणंताणंतयं ण पावदि तदा धम्मट्ठियं अधम्मट्ठियं अगुरुलहगुणं अणंतं पक्खिविदूण पुव्वं व तिण्णिवारे वग्गिदसंवग्गिदं कदे उक्कस्सअणंताणंतयं ण उप्पज्जदि तदा केवलणाणकेवलदंसणस्स वाणंता भागा तस्सुवरिं पक्खित्तो उक्कस्सअणंताणंतयं उप्पण्णं अत्थि त भायणं णत्थि तं दव्वं एवं भणिदो एवं वग्गिय उप्पण्णसव्ववग्गरासीणं पुंजं केवलणाणकेवलदंसणस्स अणंतिमभागं होदि तेण कारणेण अत्थि तं भाजणं णत्थि त दव्वं। जम्हि जम्हि अणताणंतयं वग्गिज्जदि तम्हि तम्हि अजहण्णमणुक्कस्सअणंताणंतयं घेत्तव्वं, कस्स विसओ, केवलणाणिस्स।

1 परिठविदूण (?), 2 B संखेज्जदो; 3 This prose portion is extremely corrupt and obscure, so I have constituted it with all caution

प्रशस्ति-संग्रह

प के भुजबली शास्त्री

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ १०, पंक्ति ८)—

कैवर्तीगर्भसभूतो व्यासो नाम महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् (?) ॥१०४॥
उर्वशीगर्भसभूतो वशिष्टस्तु महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१०५॥
चाण्डालीगर्भसभूतो विश्वामित्रमहामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१०६॥
शील प्रधान न कुल प्रधान
कुलेन किं शीलविवर्जितेन ।
बहो (?) नरा नीचकुलेषु जाता
स्वर्ग गता शीलगुणस्य धारिण ॥१०७॥

इति मार्कण्डेयपुराणे, भविष्यपुराणे, विष्णुपुराणे, पद्मपुराणे (च) ऋषिकुलाधिकार ।

ब्रह्मचर्य भवे मूल सर्वेषां व्रतधारिणाम् ।
ब्रह्मचर्यस्य भंगे तु सर्व व्रत (व्रत सर्व) निरर्थकम् ॥१०८॥
सुखशय्यासन वस्त्र तांबूल स्नानमण्डनम् ।
दन्तकाष्ठ सुगन्ध च ब्रह्मचर्यस्य दूषणम् ॥१०९॥
एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्य तु एकत ।
एकत सर्वपापानि मद्य मांस च एकत ॥११०॥
आरंभे वर्तमानस्य हिंसकस्य युधिष्ठिर ।
गृहस्थस्य कुत शौच मैथुनाभिरतस्य च ॥१११॥
मैथुन ये न सेवन्ते ब्रह्मचारि(चर्य)दृढव्रता ।
ते ससारसमुद्रस्य पार गच्छन्ति मानवा ॥११२॥

इति शिवपुराणे ब्रह्मचर्याधिकार ।

× × ×

अन्तिम भाग—

मूर्खास्तपोभि कृशयन्ति देह ।
बुधा मनोदेहविकारहेतुम् ॥
श्वा ताडितमस्त्र प्रसभे हि कोपात् ।
क्षेप्तारमस्त्रस्य च हन्ति सिंह ॥१९०॥

कायस्थित्यर्थमाहारं कार्यं ज्ञानार्थमिष्यते ।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं पदम् ॥१९१॥

नार्थः पदात्पदमपि व्रजति त्वदीयो
व्यावर्तते पितृवनान्न (च) बन्धुवर्गः ॥
दीर्घे पथि प्रवसतो भवतस्सखैकं ।
पुण्यं भविष्यति ततः क्रियतां तदेव ॥१९२॥

नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हि तथा शोकः समारभ्यते ।
तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा धर्मोऽथवा स्याद्यदि ॥
यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि ।
प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति कः शोकोग्ररक्षोविश (?) ॥१९३॥

त्वं शुद्धात्मा शरीरं सकलमलयुतं त्वं सदानन्दमूर्तिः ।
देहो दुःखैकगेहं त्वमसि कलावित्कायमज्ञानपुञ्जम् ॥
त्वं नित्यः श्रीनिवासः तरणरुचिसदृशो शाश्वतैकाङ्गमङ्गं ।
मा गा जीवाऽऽत्र रागं वपुषि भज निज्ञानन्दसौख्योदयं त्वम् ॥१९४॥

निश्चेष्टानां वधो राजन् कुत्सितो जगतीपते ।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥१९५॥

यह 'परसमयग्रन्थ' एक संग्रहग्रन्थ है। इसे मैंने राजकीय प्राच्यपुस्तकागार मैसूर से लिखवाया था। वहां की मुद्रित ग्रन्थतालिका में यह इसी नाम से अङ्कित है। इस ग्रन्थ में संग्रहकर्त्ता ने जैनधर्म में प्रतिपादित मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, नवनीतत्याग, कन्दमूलत्याग, रात्रिभोजनत्याग, जलगालन, आहारदान, ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि मान्य आचारों को हिन्दुओं के पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, लिंगपुराण, भगवद्गीता और महाभारत आदि ग्रन्थों के प्रमाणोद्धरणपूर्वक पुष्ट किया है। हां, एक बात है। वह यह है कि इस ग्रन्थ में जिन ग्रन्थों का हवाला दिया गया है उनके नाम और पद्य मात्र दिये गये हैं; अध्याय, प्रकरण, पृष्ठ आदि का इसमें कुछ भी निर्देश नहीं मिलता है। अतः मूलग्रन्थों से अगर कोई इन प्रमाणों को मिलान करना चाहे वह सहज नहीं है।

अस्तु, सुप्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रजी के द्वारा रचित 'वेदाङ्कुश' नामक एक लघुकलेवर ग्रन्थ वि० संवत् १९७१ में अहमदावाद में छपा है। यह 'श्रीहेमचन्द्राचार्य-ग्रन्थावली' का पांचवां ग्रन्थ है। वेदाङ्कुश और परसमयग्रन्थ ये दोनों ग्रन्थ एक ही विषय के हैं। बल्कि वेदाङ्कुश के बहुत से पद्य परसमयग्रन्थ मे यथावत् और बहुत से पाठभेद

के साथ मिलते हैं। फिर भी परसमयग्रन्थ के कर्त्ता वैराङ्कुश के कर्त्ता से भिन्न ज्ञात होते हैं। प्रतिपादित विषयों का क्रम भी दोनों का भिन्न भिन्न है। बल्कि वैराङ्कुश में परसमयग्रन्थ की अपेक्षा विषय का बाहुल्य है। वैराङ्कुश में जहां क्रमशः परोपकार, धर्म, सत्य निन्दा, दया आदि २५ विषयों पर प्रकाश डाला गया है, वहां परसमयग्रन्थ में उपर्युक्त कतिपय परिमित विषयों पर ही प्रकाश डाला गया है। वैराङ्कुश में सर्वप्रथम परोपकार पर प्रकाश डाला गया है और परसमयग्रन्थ में अहिंसा पर। हां, जैसे मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग रात्रिभोजनत्याग और ब्राह्मणत्व आदि कतिपय विषयों के पद्य दोनों में एक से मिलते हैं। बहुत कुछ सम्भव है कि इस परसमयग्रन्थ को किसी दिगम्बर विद्वान् ने संग्रह किया हो। सुदूरवर्ती दक्षिण भारत में प्राप्त इस ग्रन्थ की प्रति भी इसी बात की ओर संकेत करती है। क्योंकि दक्षिण भारत में कल तक दिगम्बर जैनों का ही बोलबाला रहा है। हां, उपलब्ध प्रति अधूरी मालूम होती है। समग्र प्रति मिलने पर इस पर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। जिन्हें इसकी समग्र प्रति उपलब्ध हो उन्हें इस पर अवश्य विशेष प्रकाश डालना चाहिये।

---

(४६) ग्रन्थ न० ५८/क

कषायजयभावना या कषायजयचत्वारिंशत्

कर्त्ता—कनककीर्ति मुनि

विषय—उपदेश

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८।। इञ्च चौड़ाई ६।। इञ्च पत्रसंख्या ६

प्रारम्भिक भाग—

येन कषायचतुष्कं ध्वस्तं संसारदुःखतरुबीजम्।
प्रणिपत्य तं जिनेन्द्रं कषायजयभावनां वक्ष्ये ॥१॥
कोपी नाशयति क्षणेन विपुलं सर्वसंचित (?) संपदं।
कोपी च त्यजति सुतं प्रणयिनीं भार्यां स्वकीयामपि ॥
कोपी पुण्यजनोचितान् सुरवरान् ।
॥२॥

भ्रूभंगभंगुरितभीमललाटपट्टं । रक्तं विरूपमपि कंपितसर्वगात्रम् ॥
प्र(?)प्रस्खलद्वचनमुद्गतलोलदृष्टिं । कोपः करोति मदिरेव जनं विचेष्टम् ॥३॥
नो संवृणोति परिधानमपि स्वकीयं । भाण्डानि चूर्णयति हन्ति शिशून् प्रदुष्टः ॥
स्वात्मं(?) परं परिभवत्यपि मुक्तकेशः। कोपी पिशाचसदृशं स्वकमातनोति ॥४॥
कोपेन कश्चिदपरं ननु हन्तुकामस्तत्तायसं स परिगृह्य करेण मूढः ॥
स्वं निर्दहत्यपरमत्र विकल्पनीयं । किंवा विडम्बनमसौ न करोति कोपः ॥५॥

× × × × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ५, पंक्ति ४)—

व्याघ्री नो कुपिता न चापि शरभी नैवान्तकी राक्षसी ।
शस्त्रेणापि तथा न पावकशिखा नो शाकिनी डाकिनी ॥
नो वज्राशनिरुत्तमांगपतितो सर्वस्य हानिं तथा ।
दुःखं भूरि यथा करोति रचिता माया नृणां संसृतौ ॥२१॥
त्यक्ताशेषपरिग्रहा अपि सदा विज्ञातशास्त्रा अपि ।
शश्वद्द्वादशभेदतप्ततपसा संपीडितांगा अपि ॥
केचिद्गौरव(?)गौरवाद्विहितया दुर्लक्षयामायया ।
मृत्वा यान्ति कुदेवयोनिमवशा माया न किं दुःखदा ॥२२॥
छिद्रावलोकनपरं सततं परेषां जिह्वाद्वयेन भयदा न विधानदक्षम् ॥
अन्तर्विपाकहृदयं च खलस्वभावं । माया करोति हि नरं स भुजंगचेष्टम् ॥२३॥
धीरोऽपि चारुचरितोऽपि विचक्षणोऽपि ॥
शीलालयोऽपि सततं विनयान्वितोऽपि ॥
वृद्धोऽपि वृद्धधनवानपि धीधनोऽपि ।
मायासखः सदसि याति लघुत्वमेव ॥२४॥
आराध्यमानस्य च देववृन्दं । प्रपूज्यमानस्य हि साधुवृन्दम् ॥
निषेव्यमानस्य तु राजलोकं । न मायिनः सिद्ध्यति कार्यजात(ल)म् ॥२५॥

× × × × ×

प्रारम्भिक भाग—

इमे कषायाः सुखसिद्धिबाधका इमे कषाया भववृद्धिसाधकाः ॥
इमे कषाया नरकादिदुःखदा इमे कषाया बहुकल्मषप्रदाः ॥३८॥
कषायवान्नो लभते सुदर्शनं कषायवान् ज्ञानमवैति नोज्ज्वलम् ॥
कषायवान् चारुचरित्रमुस्णाति (?) कषायवान् मुञ्चति शोभनं तप. ॥३९॥

यत कषायैरिह जन्मवासे समाप्यते दु:खमनन्तपारम् ॥
हिताहितप्राप्तविचारदक्षैरत: कषाया खलु वर्जनीया ॥४०॥
इति कनककीर्तिमुनिना कषायजयभावना प्रयत्नेन।
भव्यचित्तशुद्धयै (?) विनयेन समासतो रचिता।
इति कषायजयचत्वारिंशत्समाप्त ।

यह कषायजयभावना या कषायजयचत्वारिंशत् ४० पद्यों की एक छोटी सी रचना है। रचना छोटी होने पर भी साहित्यिकदृष्टि से भी इसके पद्य सुन्दर हैं। इसमें क्रोध, मान आदि कषायों से होने वाली अवस्था एवं हानि का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके कर्त्ता कनककीर्ति मुनि हैं। मालूम नहीं होता है कि यह कनककीर्ति मुनि कौन हैं? क्योंकि इस रचना में कहीं भी आप की गुरुपरम्परा आदि का कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भव है कि 'अष्टाह्निकोद्यापन' आदि के कर्त्ता कनककीर्ति भट्टारक ही इसके रचयिता हों।

---

(४७) ग्रन्थ नं०-$\frac{६१}{क}$

प्राकृतव्याकरण

कर्त्ता—श्रुतसागर

विषय—व्याकरण
भाषा—संस्कृत एवं प्राकृत

लम्बाई ८॥। इञ्च *चौडाई ४॥। इञ्च* *पत्रसंख्या १५२*

प्रारंभिक भाग —

अथ प्रणम्य सर्वज्ञं विद्यानन्दास्पदप्रदम्।
पूज्यपादं प्रवक्ष्यामि प्राकृतव्याकृतं सताम् ॥

सवार्षं च बहुलं तत्प्राकृतमृषिप्रणीतमार्षमनार्षं च बहुलमित्यधिकृतं वेदितव्यं। तत्र ऋ ॠ ऌ ॡ ऐ औ ङ ञ श ष प्लुतविसर्गौ स्वरव्यञ्जनद्विवचनचतुर्थीबहुवचनानि

× × × × ×

मध्यम भाग (पूर्व पृष्ठ ७३, पंक्ति २)—

श्रीकुंदकुंदसूरिर्विद्यानन्दिप्रमोद्य पादकंजम्।
नत्वा च पूज्यपाद श्रुतमतं परं वक्ष्ये ॥

को वा मृदुत्वरुग्णादष्टमुक्तशक्तेषु । मृदुत्वादिषु पञ्चसु शब्देषु यः संयुक्तो वर्णस्तस्य ककारो भवति वा । मृदुत्वं माउत्तणं माउक्कणं । रुज्यतेस्म रुग्णः भुग्णवयवि: (?) रोमादिना वक्रीभूते लुग्गो लुक्को दृष्टः । दृष्ट. वट्ठो डक्को । मुक्त. मुत्ता मुक्को । शक्तः सक्तो सक्को ॥१॥ ख. क्षस्य कच्छौ च क्वचित् क्षकारस्य खकारो भवति कच्छौ वा क्वचिद्भवतः । लक्षणं लक्खणं । क्षयः खउ क्षीयते । रिज्जइ च्छिज्जइ खिज्जइ । क्षीणं रीणं क्षीणं खीणं ॥२॥

× × × × × ×

अन्तिम भाग—

इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिव्याकरणकमलमार्त्तण्डतार्किकशिरोमणिपरमागमप्रवीणसूरि-श्रीदेवेन्द्रकीर्तिप्रशिष्यमुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिभट्टारकान्तेवासिश्रीमूलसंघपरमात्मविद्स्वसूरिश्रीश्रुत-सागरविरचिते श्रौदार्यचिन्तामणिनाम्नि स्वोपज्ञवृत्तिनि प्राकृतव्याकरणे संयुक्ताव्ययनिरूपणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

इसके कर्त्ता आचार्य श्रुतसागर एक बहुश्रुत विद्वान् थे । षट्प्राभृत की टीका से एवं यशस्तिलकचन्द्रिकाटीका से ज्ञात होता है कि यह कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम-स्वामी उभयभाषाकविचक्रवर्ती आदि उपाधियों से विभूषित थे । इन्होंने ९९ महावादियों को पराजित किया था । श्रुतसागर जी मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण के आचार्य एवं विद्यानन्दिभट्टारक के शिष्य थे । इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—पद्मनन्दी-देवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दी ।

पं० नाथूरामजी प्रेमी का अनुमान है कि विद्यानन्दी भट्टारक के पट्ट पर आपकी स्थापना नहीं हुई थी । क्योंकि पं० आशाधर के महाभिषेक नामक ग्रन्थ की इनकी टीका के अन्त में विद्यानन्दी के बाद की गुरुपरम्परा इस प्रकार है—विद्यानन्दी-मल्लिभूषण-लक्ष्मीचन्द्र* । इससे विदित होता है कि विद्यानन्दी के पट्ट पर मल्लिभूषण की और उनके पट्ट पर लक्ष्मीचन्द्र की स्थापना हुई थी । यशस्तिलकटीका में श्रुतसागर ने मल्लिभूषण को अपना गुरुभ्राता लिखा है । इससे भी सिद्ध होता है कि विद्यानन्दी के उत्तराधिकारी मल्लिभूषण ही हुए हैं ।

यशस्तिलकचन्द्रिकाटीका से मालूम होता है कि उस समय गुर्जर देश के पट्ट पर भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र विराजमान थे और मल्लिभूषण का प्रायः स्वर्गवास हो चुका था । लक्ष्मीचन्द्र के बाद भी श्रीश्रुतसागर के पट्टाधिकारी होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है । सम्भव है कि यह सिंहासनासीन हुये ही नहीं । उल्लिखित पद्मनन्दी, विद्यानन्दी आदि सब गुजरात के ही भट्टारक हुये हैं । परन्तु यह मालूम नहीं होता है कि गुजरात

* देखें—'षट्प्राभृतादिसंग्रह' की भूमिका पृष्ठ ६—७ ।

की किस स्थान की गद्दी को इन्होंने सुशोभित किया था। क्योंकि पूर्व में ईडर, सूरत, सोजित्रा आदि कई स्थानों में भट्टारकों की गद्दियाँ रहीं हैं। हाँ, यशस्तिलक की रचना के समय मालवे के पट्ट पर सिंहनन्दी भट्टारक थे। इन्हीं की प्रेरणा से श्रुतसागरजी ने नित्यमहोद्योत या महाभिषेक की टीका लिखी थी।

श्रुतसागरसूरि के भी अनेक शिष्य रहे होंगे। वैराग्यमणिमाला के रचयिता श्रीचन्द्र आप ही के शिष्य हैं। आराधनाकथाकोष, नेमिपुराण आदि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने भी श्रुतसागर को गुरुभाव से स्मरण किया है।* नेमिदत्त ने भी वही गुरुपरम्परा दी है, जो श्रुतसागर के ग्रन्थों में मिलती है। श्रुतसागर की यशस्तिलक चन्द्रिका, महाभिषेकटीका, तत्वार्थटीका, तत्त्वत्रयप्रकाशिका, जिनसहस्रनामटीका आदि अनेक रचनायें मिलती हैं। इनके सिवाय तर्कदीपक, विश्रमप्रबन्ध, श्रुतस्कधावतार, आशाधरकृत पूजाप्रबन्ध की टीका, बृहत्कथाकोष आदि और भी कई ग्रन्थ इनके बनाये हुये कहे जाते हैं।

इन्होंने अपने उपलब्ध किसी ग्रन्थ में अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। पं० नाथूरामजी प्रेमी का कहना है कि आप विक्रम की १६ वीं शताब्दी में हुए हैं। प्रेमीजी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित हेतु उपस्थित करते हैं—

१—ऊपर जिस महाभिषेकटीका की प्रति का उल्लेख किया गया है वह वि० सं० १५८२ की लिखी हुई है और यह भट्टारक मल्लिभूषण के उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागर के पढ़ने के लिये दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख श्रुतसागर ने स्वयं अपनी टीकाओं में कई जगह किया है।

२—आराधनाकथाकोष के कर्त्ता ब्र० नेमिदत्त वि० १५७५ के लगभग हुये हैं और वे श्रुतसागर के गुरुभ्राता मल्लिभूषण के शिष्य थे।

३—स्वर्गीय बाबा दुलीचन्दजी की सं० १९५४ की बनाई हुई हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में श्रुतसागर का समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीका में जगह जगह लोंकागच्छ पर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में से यह मूर्तिपूजा का विरोधी पन्थ वि० संवत् १५०८ के लगभग स्थापित हुआ है। अतएव श्रुतसागर का समय इसकी स्थापना से अधिक नहीं तो ४० ५० वर्ष पीछे अवश्य मानना चाहिये।

अस्तु, श्रुतसागरजी के इस प्राकृतव्याकरण की यह भवन की प्रति अधूरी है। इस प्रति में द्वितीय अध्याय के बाद केवल एक पत्र है। अतः समग्र प्रति को खोजने की जरूरत है।

* देख—'आराधनाकथाकोष' की प्रशस्ति।

(४८) ग्रन्थ नं० ६२/क

तत्त्वार्थवृत्ति

कर्त्ता—भास्करानन्दी

विषय—दर्शनादि

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३। इञ्च चौड़ाई ८।। इञ्च पत्रसंख्या १५४

प्रारम्भिक भाग—

जयन्ति कुमतध्वान्तपाटने पटुभास्कराः।
विद्यानन्दास्सतां मान्या पूज्यपादा जिनेश्वराः ॥

अथातिविस्तारमन्तरेण विमतिप्रतिबोधनार्थायेष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरं तत्त्वार्थसूत्रपद-विवरणं क्रियते तत्रादौ नमस्कारश्लोकः :—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

× × ×

मध्य भाग (पृष्ठ ८३, पंक्ति ६)—

"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"

टीका—स्पृश्यते वा स्पर्शनमात्रं स्पर्शः, स च मूलभेदापेक्षयाष्टविधो मृदुकठिनगुरुलघु-शीतोष्णस्निग्धरूक्षविकल्पात्। रस्यते रसनमात्रं वा रसः, स हि पञ्चविधः तिक्ताम्लकटु-कषायमधुरभेदात्। गन्ध्यते गन्धनमात्रं वा गन्धः, स द्विधा सुरभिरसुरभिभेदात्। वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः, स पञ्चधा कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात्। त एते भेदा उत्तरभेदोत्त-रोत्तरभेदापेक्षया संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पाश्च जायन्ते।

स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्ते सन्ति येषां पुद्गलानां ते स्पर्शरस-गन्धवर्णवन्त इति नित्ययोगेऽत्र मत्वर्थीयस्य विधानं यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति। ननु 'रूपिणः पुद्गलाः' इत्यत्र रूपाविनाभाविनां रसादीनामपि ग्रहणात्तेनैव सूत्रेण पुद्गलानां रूपादिमत्त्वे सिद्धे अनर्थकमिदं सूत्रमिति। नैष दोषः। 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इत्यत्र सूत्रे धर्मादीनां नित्यत्वादिप्ररूप(णा)या पुद्गलानामरूपत्वे प्राप्ते तन्निरासार्थं रूपिणः पुद्गला

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI DECEMBER, 1940 No II

Edited by

Prof Hiralal Jain M A LL B
Prof A. N Upadhye M A.
Babu Kamta Prasad Jain M R A S
Pt K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH, BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 4 Foreign Rs 4 8 Single Copy Rs 1 4

CONTENTS.

Om

THE
JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

Vol VI No II | ARRAH (INDIA) | December 1940

JAINA LITERATURE IN TAMIL

By Prof A Chakravarti M A, I E S

Continued from Vol VI No I page 8

The merchant gave his daughter in marriage to this robber She resolved to win the favour of her husband and from that time on adorned with all her adornments she prepared her husband s meal with her own hand After a few days the robber thought to himself 'When can I kill this woman take her jewels and sell them and so be able to take my meals in a certain tavern? This is the way

He took to his bed and refused to eat She came to him and asked 'Are you in pain? Not at all wife 'Then perhaps my mother and father are angry with you? They are not angry with me wife What is the matter then? 'Wife, that day when I was bound and led through the streets I saved my life by vowing an offering to the deity that lives on Robber s cliff likewise it was through his supernatural power that I gained you for my wife I was wondering how I could fulfil my vow of an offering to the deity Husband do not worry I will see to the offering tell me what is needed 'Rich rice-porridge flavoured with honey and the five kinds of flowers including the Tāji flower Very well husband I will make ready the offering'

Having prepared the whole offering, she said to her husband "Come, husband, let us go" 'Very well, wife; let your kinsmen remain behind, put on your costly garments and adorn yourself with your precious jewels, and we will go gaily, laughing and disporting ourselves.' She did as she was told. When they reached the foot of the mountain, the robber said to her, "Wife, from this point on let us two go alone; we will send back the rest of the company in a conveyance; you take the vessel containing the offering and carry it yourself.' She did as she was told.

The robber took her in his arms and climbed the mountain to the top of the Robber's cliff. (One side of this mountain men can climb, but the other side is a precipitous cliff, from the top of which robbers are flung, being dashed to pieces before they reached the bottom; therefore it is called "Robber's cliff") Standing on the top of the mountain, she said, 'Husband, present the offerings.' Her husband made no reply. Again she spoke, "Husband, why do you remain silent" Then he said to her, 'I have no use for the offering, I deceived you in bringing you here with an offering." 'Then why did you bring me here, husband' 'To kill you, seize your jewels, and escape' Terrified with the fear of death, she said to him, 'Husband, both my jewels and my person belong to you; why do you speak thus?'. Over and over again she pleaded with him. 'Do not do this,' but his reply only was, 'I will kill you.' 'After all, what will you gain by killing me? Take these jewels and spare my life, henceforth regard me as your mother, or else let me be your slave woman and work for you.' So saying, she recited the following stanza,

> Take these golden bracelets, all sets with beryls
> Take all, and welcome; call me your slave-woman.

The robber, hearing this, said to her, 'Despite what you say, were I to spare your life, you would go and tell your mother and father all I will kill you That is all Lament not with vehement lamentation.' So saying he recited the following stanza,

> Lament not over much, tie up your possession quickly.
> You have not long to live; I shall take all your possessions.

She thought to herself Oh, what a wicked deed is this? However, wisdom was not made to be cooked and eaten but rather to make men look before they leap I shall find a way of dealing with him And she said to him, 'Husband when they caught you in the act of committing robbery and led you through the streets, I told my mother and father, and they spent a thousand pieces of money in ransoming you and they gave you a place in their house and from that time on I have been your benefactress to-day do me the favour of letting me pay obeisance to you Very well, wife said he granted her the favour of paying obeisance to him, and then took his stand near the edge of the cliff

She walked around him three times, keeping him on her right hand and paid obeisance to him in the four places Then she said to him Husand this is the last time I shall see you Henceforth you will see me no more neither shall I see you anymore And she embraced him both before and behind Then remaining behind him as he stood off his guard near the edge of the cliff she put one hand to his shoulder and the other to his back and flung him over the cliff Thus was the robber hurled into the abyss of the mountain and dashed to pieces when he reached the bottom The deity that dwelt on the top of the Robber s cliff observed the actions of the two and applauding the woman uttered the following stanza

> Wisdom is not always confined to men
> A woman too is wise and shows it now and then

Having thrown the robber over the cliff the women thought to herself, ' If I go home they will ask me ' Where is your husband? and if in answer to this question, I say ' I have killed him they will pierce me with their knives of their tongue, saying We ransomed the scoundrel with a thousand pieces of money and now you have killed him If on the other hand I say He sought to kill me for my jewels they will not believe me. I am done with home She cast off her jewels went into the forst, eand after wandering about for a time came to a certain hermitage of nuns. She reverently bowed and said Sister, receive me into your order as a nun So they received her as a nun

After she had become a nun, she asked ' Sister, what is the goal of your religious life' ' Sister, the development of spiritual ecstasy through the employment of the Kasinas, or else the memorising of a thousand articles of faith, this is the highest aim of our Religious Life" "Spiritual ecstasy I shall not be able to develop, Reverend Sister, but I will master the thousand articls of faith." When she mastered the thousand articles of faith, they said to her, "You have acquired proficiency, now go through the length and breadth of the land of the Rose-Apple and look for someone able to match question and answer with you."

So placing a branch of Rose-Apple in her hands they dismissed with these words, "Go forth, Sister, if anyone who is a layman is able to match question and answer with you, become his slave; if any monk, enter his Order as a nun, adopting the name 'Nun of the Rose Apple' She left the hermitage and went about from place to place asking questions of everyone she saw. No one was able to match question and answer with her, in fact, such a reputation did she acquire that whenever men heard the announcement, "Here comes the Nun of the Rose-Apple," they would run away

Before entering a town or village for alms, she would scrape a pile of sand together before the village gate and there plant her rose apple branch. Then she would issue her challenge. 'Let him that is able to match question and answer with me trample this rose-apple branch under his feet' So saying, she would enter the village No one dared to pass beyond that spot. When one branch withered, she would procure a fresh one

Travelling about in this way, she arrived at Sāvatthī, planted the branch before the city gate, issued her challenge in the usual way, and went in to seek alms. A number of young boys gathered about the branch and waited to see what would happen, Just then the elder Sārīputta, who had made his round and eaten his breakfast and was on his way out of the city, saw those boys standing about the branch and asked them 'What does this mean ?'. The boys explained matters to the Elder. Said the 'Elder, Go ahead, boys,

trample that branch under your feet. We are afraid to Reverend Sir 'I will answer the question you go ahead and trample the branch under your feet The Elder s words supplied the boys with the necessary courage Forthwith they trampled the branch under their feet shouting and kicking up the dust

When the nun returned, she rebuked them and said 'I don't intend to bandy question and answer with you how did you come to trample the branch under your feet? Our noble Elder told us to 'Reverend Sir, did you tell them to trample my branch under their feet? Yes Sister 'Well then match question and answer with me 'Very well I will do so

As the shades of evening drew on she went to the Elder's residence to put her questions The entire city was stirred up The people said to each other Let us go and hear the talk of the two learned persons Accompanying the nun from the city to the Elder s residence, they bowed to the Elder and seated themselves respectfully on one side

The nun said to the Elder Reverend Sir I wish to ask you a question 'Ask it, Sister So she asked him the thousand articles of faith Every question the nun asked the Elder answered correctly Then he said to her You have asked only these few questions are there any others? These are all Reverend Sir You have asked many questions I will ask you just one will you answer me? Ask your question What is one She said to herself This is the question I should be able to answer but not knowing the answer, she inquired of the Elder What is it Reverend Sir? 'That is the Buddh s question Sister 'Tell me also the answer Reverend Sir If you will enter our order I will tell you the answer 'Very well admit me to the Order' The Elder sent word to the nuns and had her admitted After being admitted to the Order, she made her full profession, took the name Kuṇḍalakeśi and after a few days became an Arhat endowed with the supernatural faculties

In the Hall of Truth the monks began a discussion of the incident. 'Kuṇḍalakeśi heard little of the Law, and yet she succeeded in being admitted to the Order; moreover, she came here after fighting a fierce battle with a robber and defeating him.' The teacher came in and asked them, 'Monks, What is it that you are sitting here discussing now ?.' They told him, 'Monks, we assure not the Law. I have taught as being 'little' or 'much.' There is no Superior merit in a hundred sentences that are meaningless; but one Sentence of the Law is better. He that defeats all other robbers wins no victory at all, but he who defeats the robbers, his own Depravites, his is victory indeed.' There he joined the connection and preaching the Law, pronounced the following stanza:

Though one should recite a hundred stanzas
Composed of meaningless sentences
Yet one Sentence of the Law were better
Which if a man hear he is at peace
Though one should conquer a thousand
times a thousand men in battlē,
Yet would he be the mightiest conqueror
Who should conquer one himself

Neelakeśi which is one of the five minor Kāvyas in Tamil is evidently an answer to Kundalakeśi, the Buddhistic work As is suggested by the author himself the story is not taken from among the Purānic stories The story is probably an imaginative creation by the author merely to serve as a frame-work for introducing philosophical discussions The work has not seen the light of day up to the present. The present writer is trying to bring out an edition of this rare classic which is in the press In the course of a few months it may be made available to the public[1]. The story begins with a scene laid in Pāñcāla Deśa which is otherwise known as Pārtti Nādu The king of the land is referred to be Samudrasāra and his capital is Puṇḍravardhana. On the outskirts of this city there is a cremation ground which goes by the name of Palalaiyam. There is also a famous Kāli temple there Just about the Kāli temple there is a Jaina Yogin called Municandra. One day

1. Since edited by him.

people from the town brought as their offering to the Kāli a number of beasts and birds The Jaina Ācārya asked them the reason for this extraordinary sacrifice In answer they gave that these animals and birds they had to offer to Kāli for the queen gave birth to a child as the result of Kāli s blessing The Jaina Ācārya informed those persons that the Goddess would be quite satisfied if baked clay models of animals and fowls were set up as their offerings before the Kāli temple Such a procedure would be quite enough to satisfy the Goddess and to fulfill their vows Further it would relieve a number of animals from death and also save themselves from the sin of Himsā This teaching evidently appealed to the people at large who drove away all their animals back to their home This behaviour of the people very much upset the Goddess Kāli who realised that she was not capable of frightening away the Jaina ascetic because of his superior spiritual culture But now she wanted to drive him away from the precincts of the Kāli temple so that he might not interfere with the regular sacrifice Hence she went about in search of her chief, the great Neelakēśi of the southern country before whom the complaint was placed as to the Jaina ascetic s interference with the regular sacrifice and worship at the Kāli temple The great Neelakēśi marched towards the north in order to get rid of this Jaina Yogin and to restore regular worship and sacrifice at the Kāli temple at the city of Puṇḍravardhana Neelakēśi created there several frightening situations hoping to drive away Municandrācārya All her attempts to frighten the Yogin proved futile He was not the person to be easily got rid of He was firmly rooted in his practice of Yoga and no amount of dreadful circumstances created in the environment would affect his calm and peaceful meditation He went on as if nothing had taken place around him Then Neelakēśi thought that the only way by which she could defeat this Yogin by some hook or crook was to deviate him from his spiritual purpose and draw him towards sensual pleasures She thought that this would be the surest way to spoil his penance With this object in view, she put on the beautiful form of the princess of the land and began to play the coquette before the Yogin She behaved even as a public courtezan trying to attract the Ācārya Even this attempt

proved no more successful In the meanwhile, Municandrācārya himself told her the whole truth He made her understand that she was not really the princess from the royal household, that she was merely the chief of the Devatās attempting to frighten him away from the place in order to restore their usual animal sacrifice. This plain speaking made her realise the greatness and the wisdom of the Yogin, and she confessed before him that all he stated was true and begged him to pardon her. When she was pardoned by the Yogin, she, out of gratitude, expressed her willingness to adopt, in future, a more healthy and reasonable course of life and wanted him to help her in this by teaching her the fundamental principles of Ahiṁsā. When she heard the noble religious principles of Ahimsā she felt extremely grateful to the Guru and begged him to say what would be the best thanks-offering from the disciple. When he told her the best form of thanks-offering that he would have was to go about the land preaching this doctrine of Ahiṁsā, she accordingly accepted the task and thereafter taking the human form she devoted her time in propaganda work in favour of Ahimsā doctrine This is the subject matter of the opening chapter Dharman-Urai-Carukkam.

The 2nd chapter Kuṇḍalakēśivādacarukkam is devoted to the discussion that Neelakēśi had with Kuṇḍalakēśi who was the representative of Buddhism Naturally in this discussion Kundalakēśi is represented to be defeated by Neelakēśi Kuṇḍalakēśi is made to acknowledge her defeat and to accept the doctrine of Ahiṁsā. Neelakēśi learns from Kundalakēśi that her teacher is one Arhacandra, a Buddhistic scholar

The 3rd chapter is devoted to the discussion with Arhacandra who is also made to acknowledge his defeat in the discussion. Arhacandra after accepting Neelakēśi's religion of Ahimsā directed her to Mokkala, one of the chief disciples of Gautamaśākyamuni and one of the early founders of the Buddhistic Sangha.

To be continued.

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M R A S

Continued from Vol VI No 1 page 16

3 *Truth must be spoken*—P E 7 and Brahm R I) Asoka s this precept is exactly the *Satyānuvrata* (vow of Truth) of Jainism[115] and for its right observance Asoka instructs the people to guard one s speech according to Dharma which also constitute a certain *Bhāvinā* for the right observance of truthfulness in Jainism[116]

4 *Moderation in Expenditure and possessions* – (R E 3) Asoka seems to represent in this precept the last *anuvrata* Parigraha parimānavrata of the Jainas[117]

5 *Self control and purity of heart*—(bhāvaśuddhi R E 13) I think Asoka preaches the remaining two *anuvr tis* of the Jainas through his teaching of self control and purity of heart. A self controlled and pure hearted man can hardly be suspected of a guilt of theft and adultry

6 *Distribution of gifts and respect*—(*dānamvapūja*) In Jainism too the main observance of Dharma for a layman is regarded in honouring the worshipable and distributing gifts to Brāhmanas and Śramanas[118] To covet not other s wife and possessions means to subdue one s sensual cravings and to be pure at heart is nothing but to qualify oneself to acquire great merit, for on heart (or bhāva) depends the good and bad of beings[119]

7 *Means of Acquiring Dharma*—Asoka says that "happiness in this world and in the other world is difficult to secure without great love of Dharma careful self examination great obedience and service great fear and great energy (P E.I) It is alright according to Jainism as well To keep faith in Dharma means great love for

---

115 Tattvārthadhigam—Sutra S B J p 142

116 *Ibid* p 138 *Bh th Samiti* vow of Jainism also is but to guard one s speech "क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।"

117 Ratna Karandakam 3—15

118 Śri Kundakaundāchāryah
दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मो ण सावगो तेण विणा ।'—श्रीकुन्दकुन्दाचार्य

119 So says Jainācharya—'भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणविंति ।"

it and a layman observing it passes a happy life here and after death attains to heavens [120] Along with it self-examination is also essential In Jainism it is called प्रतिक्रमण Pratikramana) and the Jains layman practises it every day when he observes his Sāmāyika-vow. [121] Great obedience and service of Asoka likewise seems to be the Vaiyāvratya-Vow of the Jainas[122] and the great fear of Asoka is akin to the fear of transmigration etc, described in Jainism [123] Last of all Asoka names the great energy as an essential for acquiring Dharma and here too he is quite minutely following the Jaina teaching, which instructs the layman to observe the great energy *utsāhbhāvanā* (उत्साहभावना).[124]

8. *Gifts of Asoka.* – Asoka exhorted people in order to observe Dharma, to keep oneself aloof of the *pāpāsrava* (अपास्रव) to do many a good deed, to practise compassion, liberality, truthfulness and purity. (अपासिनवे बहुकयाने दया दाने सचे सोचये चखुदानं). Asoka bestowed the gift of spiritual sight and granted many kindnesses up to the boon of life to animals birds and denizens of water He got established hospitals not only for human beings but also for animals. He also distributed food to infirms and poors [125] Thus Asoka's gifts

120 'सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि च तहपुणो वि फासेदि ।
पुण्णा भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खय णिमित्तं ॥८४॥
—अष्टपाहुड़ पृ० २२१

'अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ।'
'पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जसि पियो तवो संयमो य, खंति य बम्भचेरं च ॥'

121. "दव्वे खेत्तो काले भावे य किदावराह सोहणयं ।
णिंदण गरहण जुत्तो मण वच कायेण पडिकमणं ॥२६॥ –मूलाचार ।"

122 Vaiyavrittya Karana—serving the meritorious
Tattvarthadhigamsutra,
(S B J) p 134

'प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।'२०।९।

123 'जिणवयण मणु गणेता संसार महाभयँपि चिंतता ।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्म मरणेसु ॥८०५॥ मूलाचार ।'

124. 'उच्छाह भावणासं पसंस सेवा सुदंसणे सद्धा ।
ण जहदि जिणसम्मतं कुव्वन्तो णाणमग्गेण ॥१४॥'—अष्टपाहुड़ पृष्ठ ८९ ॥

125 Mookerjee, Asoka p 132, 175 & 188—193.

are also in accordance to Jainism, for in it are described four kinds of gifts i.e (1) gift of knowledge (2) gift of life (3) gift of food (4) gift of medicines [126] Moreover it is the teaching of Jainism only that through the inflow (आस्रव) of bad Karmas ins are accumulated to which Asoka refers so remarkably In Buddhist and Brahmans religions the (अपास्रव) is not to be found in this sense [127] Compassion is very back bone of Jainism and truthfulness & purity also find an important place in Jainism [128] Thus Asoka s gifts and method of observance of Dharma are quite in accordance to Jainism

9 *Asoka s gentleness* - Asoka says that to observe self exami nation is difficult but one should not let ruin one self by ferocity cruetly, anger, arrogance and jealousy [129] It points to the gentleness of the heart of Asoka He imitates the Jain maxim that " live and let live and help others to live a happy life Prisoners of Capital punish ment did also receive kind attention of Asoka and he allowed them 3 days to observe and get observed by their relations religious vows and liberality etc. Here too Asoka acts according to Jain spirit for he attracts the attention of prisoners to die a right death which constitute a vow itself in Jainism [130]

10 *Asoka s Dharma yātras* —were indeed for his own good and that of other souls On these tours says Asoka the following takes place visiting Sramanas and Brahamanas and making gifts to them, visiting the aged and supporting them with gold, visiting the people of country instructing them in Dharma and questioning them about Dharma as suitable for this occasion (R E 8) Asoka s these tours seem to be simply the copy of the *Vihāra* of *Chaturvidha Jain Sangha*, in which *Sramanas* instructs and questions generality about Dharma and pious people worship and

---

126 Tāttvarthādhigam—Sūtra (S B J) p 55
127 Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol VII p 472
128 "उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मं ॥६।६॥
—तत्वार्थसूत्र
129 P E III   130 Tāttvarthādhigama—Sūtra (S-B J) p 145
See also Bhandarkara Asoka pp 126—127
"मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२।७॥"

distribute gifts to *śrāmaṇas* (ascetics) and Brahmanas (Vrati Śrāvaka) They also observe general liberality (Karunādāna) by distributing gifts without any distinction or limit to infirms, poor and needy [131]

11 *Dharma in a nutshell.*—In R. E XIII Asoka described 'Dharma in a nutshell' as the right behaviour towards all, manifesting itself in (1) *akṣati*—non-injury, (2) *Saṃyam*—restraint, (3) *Samācharaṇam*—equal treatment and (4) *Mārdavam*—mildness, in respect of all creatures, human beings, as well as beasts and birds (Sarva Bhûtānâm).' * Asoka's this surmise of Dharma is also akin to Jaina view. Non-injury, restraint, mildness and equal treatment are most essential of the ethical rules of Jainism.†

Thus it is clear that the teaching of Asoka for the good of people in the next world as well, is quite in conformity to Jaina teaching. It seems that Asoka had closely followed it in drafting out his code of religious morality. Asoka is an ardent lover of Dharma and he exhorts people again and again to observe it in any shape—fully or in part एकदेशः (ēkadēśah 7th R. E) for, he knows that it is very difficult to observe the Dharma fully. (11th R E.) It seems as if Asoka is refering here to the twofold Dharma of the Jain scriptures *i.e*, (1) Dharma for ascetic and (2) that for laity. In the former it is obligatory to observe the Dharma fully, but in the latter it is not so.[132] A laity should observe the Dharma according to his energy. Asoka says clearly that it is not an easy task to observe the Dharma fully it requires rather great energy, zeal and sacrifice

Asoka's following teachings are also in accordance to Jainism and they seem to have codified simply to promote the happiness in the

131 *Dāyadatte-dāna* of Jainism.

बृहत् जैन शब्दार्णव भा० २ पृ० ४९२

* Mookerjee, Asoka p 70 † Outlines of Jainism, pp 67—73

132. 'एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जईधम्मं णिकल वोच्छे ॥२७॥ अष्टपाहुड़ पृ० ९९,
''निरत कात्स्न्र्य निवृत्तो भवति यतिः समयसार भूतोयं ।
यात्वेकदेशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥ पुरूषार्थसिद्ध्युपाय ।

present life of human beings These are —(1) obedience to mother and father to elders and teachers respect of pupils to their gurus (R E IX)[133] (2 Arrangement of medicine for man and animal alike to send medicinal trees and herbs to other countries and to plant trees and got dug wells etc on roadside for the benefit of man and animal[134] (2 R E & P E 7) (3) To honour relations and serve elders (4 R E) to visit the aged and give them gold R E 8) (4) Proper treatment towards Śramaṇas and

---

133 Respect is defined as a very root of Dharma in Jainism See Uttaradhyayan *e g*

एव धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मुक्खो।
जेण कित्तिं सुअं सिग्ध, नीसेसं चाभिगच्छइ॥"

× × × ×

'तिण्ह दुप्पडि आर समणाओ सो त जहा।
अमपिउणो भट्टिदायगस्स धम्मायरियस्स॥

× × ×

'तं पुण पिय माइ सहोयरेसु पणइणि अवच्च सयणेसु।
गुरुजण नायर परतित्थिएसु पुरिसण कायव्व।'

× × ×

'तम्हा विणयमेसिज्जा सीलं पडिलभेज्जए।'—उत्तराध्ययन १ अ०

× × ×

'देवमरत्या गुरूपास्त्या सर्वसत्त्वानुकम्पया।
सत्संगत्याऽऽगमश्रुत्या गृहस्थो जन्मन फलम्॥'

× × ×

'सावज्जजोगविरइ, उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा, वणतिगिच्छगुणधारणा चेव।

134 Jainas are found ever enthusiastic to give aushadhid n (औषधिदान) and they have their free dispensaries in most of the important towns of India The Jaina Ayurvedic dispensary at Barnagar (Malwa) is even sending medicines to Africa and other foreign countries Moreover the Jainas are only people who are alert to have opened hospitals for animals They also got dug wells and tanks and lay groves for the benefit of all

Brahmans and servants and dependants (9, P. E) and the poor and miserable (P E VII)[135]

Asoka afforded these above comforts to the people simply for the reason that the people might strictly follow the path, laid down by Dharma (P. E 7) In Jainism too the *Laukika Dharma* is prescribed only to gain the Dharma *Pari-Laukika*

Philosophy of Asoka.

The belief of Asoka in philosophical dogmas as evident from his edicts is also the same as upheld by Jainism. We shall see it in the following lines :—

1 *Āsrava and actions of people*. - I is clear from the edicts that people attain to happiness or misery in this world and the other by their own good or bad actions Danger for man near Asoka is only the bad inflow (अपास्त्रव). Certainly a man of world can only be happy in this and the next world when he acquires great merit (Punya) and finishes with the *pāpāsrava* so far as possible Hence Asoka's belief in good and bad *āsrava* according to the actions of people is similar to Jain philosophy.

2, *Immortality of Soul* —Asoka is almost silence on this point, but since he admits parloka (Next world) it is clear that he understood the immortal nature of soul Surely if there is endless happiness in heaven, there must be an endless being for enjoying this happiness otherwise that happiness would not be endless Here too Asoka follows the Jain philosophy

3 *Eternity of Loka* —Asoka seems to accept loka, and parloka as eternity, since he speaks of endless happiness to be enjoyed in it In Jainism too the Loka has been described as eternal, though in consequence of time and space, it has been divided in many parts and periods[136] Asoka also accepts its parts & periods, since he names

---

135 While defining *Ahimsā* Umāsvāti has given injuctions for the proper treatment of servants and dependents (Tattvārthādhigam-sutra, pp, 146-147) For the poor and miserable Jainism has laid down the rule of *Karunādāna* (करुणादान) and we find in the scriptures 'दुहियं दिज्जय दानं अणुकपलेन ।'

136 Tattvārthādhigam-Sûtra, III 6c, IV 14c, V 12.

para Loka i e heaven and hell and ' *Kalpa Kāla* as well

4 *Non injury the nucleas of Dharma* —Asoka put great stress on the non injury of all living beings so much so that it is the very spirit of his Dharma It is surely just the same thing as found in Jaina philosophy Jainism teaches that no body can attain to heaven by sacrificing live animals on the alter of Dharma—it is rather its pollution Asoka proclaims this very philosophical truth in his edict

5 *Dharma is meant for all* —Asoka was very very anxious that the observance of Dharma may be practised by one and all—low and high as well as happy and miserable His propagation of Dharma was for the good of all (सर्वजनहित) Asoka was indeed very liberal in his this proclamation and it seems that here he imitates the Dharma chakravarti (Tirthankara) of the Jainas [137] This catholicity of Asoka is of course contrary to the dogmas of Brahmanas, who raised walls of restrictions and limits in the realm of religion and Asoka was successful in his this laudable effort

6 *Celestial beings of Asoka* – It is evident from the Brahmagiri and other edicts that Asoka tried to get mingled the people with the celestial beings (देव) While intrepreting the dreams seen by Chandragupta the Jain author says that celestial beings are not to be seen here during the present era of time[138] Asoka seems to support this very view when he says that celestial beings who were unmixed got mixed now But how he caused them to mix with people? Certainly they could not come from heavens in this world during this era Asoka must have known this, but as he was very anxious for the propagation of Dharma and knew that people will not bring faith on heavens unless a clear visible knowledge of them

137 Nandisutra 1, 2 306

जहा पुण्णस्स कत्थति, तहा तुच्छस्स कत्थति ।

जहा तुच्छस्स कत्थति, तहा पुण्णस्स कत्थति ॥१॥२॥३०६ – नंदासूत्र ।

138 Bhadrabāhuchant ch II st 36

" व्यघुम्नमान गीर्वाणविमान वीक्षित तन ।

कालऽस्मिन्नाऽऽगमिष्यन्ति सुरखेचरचारणा ॥३६॥

is imparted to them[139], he endeavoured through other means to assure them of the existence of heavens and for this Asoka showed their images to the people. The celestial chariot, and elephant, agniskandha *etc.*, which Asoka showed to the people are traceable in the 16 dreams which the mother of a Tirthankara sees and the carved and painted images of which are shown to Jain laitly in general[140]. Asoka might have taken the idea from the Jainas and brought it into practice. Even to this day in the Rathyātras of the Jainas wooden elephants and *vimāns* are to be seen. By showing *vimāns* and elephant Asoka seems to have indicated *vaimanik* (वैमानिक देव) *devas* (celestial beings) and his display of *Agni-Skandha* likewise indicate to the firelike dazzling bodies of the *Jyotishi and other devas* of Jain philosophy[141].

7. *Heavens. result of meritorious deeds:*—The result of meritorious deeds near Asoka is to attain to heavens. He is silent and speaks nothing about *Nirvāna*; which is the *sumum Bonum* in both the religions Buddhism and Jainism On this account the belief of Asoka may be doubted as that of Brahmanism But seeing the conformity of other dogmas and teachings of Asoka with Jainism, it is hardly tenable that he went against the Jain view on this point. Rather his silence about *Nirvāna* is in agreement to Jain philosophy; for, according to Jainism nobody can attain to *Nirvāna* from this part of land during the present era of time[142]. Hence Asoka rightly exhorted the people to observe the ethics of a house holder's Dharma only. With *Nirvāna*, Asoka is silent about ascetics and asceticism as well, which mainly aim to *Nirvāna*. He seems to teach the people the Dharma of a house holder and a house holder of course can

To be continued.

---

139. cf Uttarādhyayana

'जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडाय गच्छइ। न मे दिट्ठे परे लोए चक्खुदिट्ठा इमारई ॥१३॥

' वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इम्मंमि लोए अदुवा परत्था *etc.* उत्तराध्ययन ५।५

140. Harivamsapurāna, and the "Jaina" Silver Jubilee No p 78

141 Trilokasāra, g 332 ff and Uttrādhayayana-Sûtra, 3 14—15 "महासुक्काव दीप्पता" ।

142. Ashtapāudha, 338 अष्टपाहुड़ (बम्बई) पृ० ३३८ ।

The Southern Asmaka

BY

G N Saletore M A

The Asmakas were an ancient community having settlements both in the *Uttarāpatha* and the *Dakṣiṇāpatha* It is more or less certain that their capitals in both these territories were named Pōdanapura This conjecture receives some support in the sugges tion that the southern townships of Madura Pandya Pratiṣthāna and Aśmaka were most likely Āryan colonies christened after their mother cities[1] The southern Aśmaka was also known in later times as Sapadalakṣa and Barbara

The Aśmakas of the north are mentioned in the *Mahābhārata*[2] Aśmaka was the putative son of the ṛṣi Vasistha and Madayanti the queen of Kalmāṣapāda Accordingly he is said to have founded the city of Paudanya[3] The *Vayu Purāna* makes Aśmaka and Mūlaka the scions of the Ikṣvāku race[4] Asmaka according to Pāṇini denotes a kṣatriya tribe a country and a king belonging to that country[5] Assaka (Asmaka) was one of the *Sodasa Mahājana*

---

1 Bhandarkar *The Carmichael Lectures* 1919 pp 11 12 15 16 Cf Kosamba Pataliputra, Virāti and Ujjeni of southern history On the Aśmakas in general read *The Cambridge History of India* I pp 141 172 3, 352 6 468 Bhandarkar *Ibid* pp 53 4 B C Law *Ancient Indian Tribes* pp 86-92 *Ibid II* pp 26-7 *Ibid Heaven and Hell in Buddhist Perspective* p 74 *Ibid Geography of Early Buddhism* pp 21 22 *Ibid Geographical Essays I* p 32 Raychaudhuri *Political Hist of Ancient India* pp 76 121 2 193 197 8 352 411 (Calcutta 4th Edn) Stein *On Alexander s Track to the Indus* pp 42 3 58 61 121 4 135 153 157 9 Tarn *The Greeks in Bactria and India* pp 151 169 70

2 *Mahābhārata* Jayadrathavadha VII, 85 1606

3 *Ibid* I 77 47 *Aśmakonāmarājarṣiḥ Paudanyam yonyavesayat* cf *Vishnu purāna* pp 382 3 (Ed Wilson)

4 *Vāyu Purāna*, ii, 26 176 177 149

padas of Buddha's time[6] The *Jātakas* distinctly aver that this Aśmaka kingdom had a capital called Pōtali[7], Pōtana[8], or Pōtanagara[9] A king named Aśmaka reigned in Pōtali which was a city of the kingdom of Kāśi[10] Its location is established by the fact that it is placed between Śūrasena and Avanti.[11] Much valuable light is thrown by Jaina sources about this capital of Aśmaka[12]. Pautana[13] or Pōdana[14], doubtless the Pōtana of the Buddhists and Paudanya of the Hindus lay to the west of Ayodhyā[15]. The Pāñcālas, Matsyas, Kacchas and Kurus once fought a deadly battle with the Pōdana king and his allies, Sindhupati, Lambakarna, etc.[16] The Greek historians have left accounts of the tribe called Assakenos and Alexander's conquest of their city called Massaga[17]. Aristoboulous[18] and Arrian[19], likewise, have characterized their country as "mountainous," "hilly and rugged." Varāhamihira locates Aśmaka in the north-west[20]. Bāna evidently refers to this northern Aśmaka in the following passage "Śarabha, the Aśmaka king, being attached to stringed music, his enemy's emissaries disguised as students of

---

5 Pāṇini, *Aṣṭādhyāyi*, IV, 1, 173

6 *Anguttara Nikāya*, I, 213 , *Ibid*, IV, 252, 256, 260 , *Mahāvastu*, I, 34

7 Fausboll, *The Jātaka*, II, No 207, p 155 , *Ibid*, No 301, p 3

8 Dialogues of the Buddha, III, *Dīgha Nikāya*, Mahā GovindaSuttanta, 236, pp 270-1

9. *Vimānavatthu Commentary*, (P T S), pp 259-260

10. Fausboll, *Ibid*, No 207, p 155

11 *Ang Nik*, I, 3, p 213 , *Ibid*, IV, 14, pp 252, 256, 261-2 , Fausboll, *Ibid* V, No 532, p 317, Malalasekhara, *A Dictionary of Pali proper Names*, I, p. 222

12. Read K P Jain, *Pōdanapura and Takṣaśilā* in the *Jaina Antiquary*, III, pp 57-66 for an exhaustive account.

13 Vimalasūri, *Paumacariu*, IV, 67-77

14 Puṣpadanta, *Mahāpurāṇa*, I, VII 21, 1 4, p 115 (Ed Vaidya)

15 Jinasena, *Harivamśapurāṇa*, XI, 78, p 212

16 Dhanapāla, *Bhaviṣayattakahā*, Chs XIII, XIV (G O S)

17 M' Crindle, *The Invasion of India by Alexander the Great*, pp 66 68 69, 176, 200, 201, 272, etc, (1893)

18 *Ibid*, *Ancient India as described in classical literature*, p 22 (1901)

19. *Ibid*, *The Invasion*, pp 60-61

20. Varāhamihira, *Bṛhatsamhitā*, XIV, 22, p 91 Cf also *Ibid*, IX, 18, p 60, XI, 55, p. 79 etc. (Ed Kern)

music, cut off his head with sharp knives hidden in the space between the vina and its gourd [21]

The southern Aśmaka is mentioned in the Puranas[22] Aśmaka and Kalinga are the subject matter of the *Culla Kālinga Jātaka* thereby showing that this Aśmaka was in the south rather than its northern namesake It is related that when king Kalinga was reigning in Dantapura in the Kalinga kingdom Assaka was the king of Potali in the Assaka country The two kingdoms were contiguous as the following incident bears out When Kalinga invaded the Aśmaka rāṣṭra Nandisena the minister of the latter sent a mes age to him—'Let Kalinga abide within his own marches and not encroach upon ours and the battle shall be fought on the frontiers of the two countries Both the rulers then halted within the limits of their respective territories [3]

The Brāhmana Bāvari s hermitage was on the bank of the river Godāvari in the Assakaviṣaya, in close proximity to Mūḷaka or Aḷaka[24] The capital of Mūḷaka was Patiṭṭhāna (Pratiṣṭhāna)[25] That this Aśmaka was on the Godāvari is also proved by *Vasudevahindi* a Jaina work which has been assigned by Dr Jacobi to 'not later than the sixth century [26] and by Dr Alsdorff to a much earlier date than the sixth century A D [27] This work affirms that Poyanapura (Pōdanapura) was situated on the (bank of the) Goyāvari

21 Bāṇa *Harṣacarita* VI 192 The rulers whose fate is described by Bāṇa as having met their end on account of mistaken carelessness hailed from the north Ibid pp 192 4

22 *Vāyu* 46 127 65 *Brahmāṇḍa* 16 58 27 *Mārkaṇḍeya* 54 48 60 *Vāmana* 13 49 21 *Viṣṇudharmottara* 1 9 5 7 *Viṣṇu* p 188 (Ed Wilson)

23 Fausböll *The Jātaka* III No 301 p 4 On Kalinga See Pāṇini I 169

24 *Sutta Nipāta* V 976-7 p 190 *So Assakassa visaye Mūḷakassa samāsane vasi Godhāvarikūle uñcenaca phalenaca* Cf Śarabhanga s hermitage was also on the bank of the Godāvari in the Assaka country Mahāvastu III 363 Law *Geographical Essays op cit*

25 *Ibid* V 1010 1013 p 194

26 Jacobi *Pariśiṣṭaparvan of Hemacandra* p VII (Bibl Ind 2nd Edn)

27 Alsdorff *Bulletin of the School of Oriental Studies* VIII, p 320 seq

(Godāvarī)[28]. All indigenous accounts are positive regarding the fact that Pōdanapura was the capital of the northern Aśmaka The evidence of the *Sutta Nipāta* and *Vasudēvahiṇḍi* therefore enables us to assert that the capital of the southern Aśmaka was also known as Pōdanapura. Some of the kings of this Pōdanapura were Siri Vijaya (Śrī Vijaya)[29], Punnabhadda (Pūrnabhadra)[30], Dakkha (Daksa)[31], Sōmacanda (Sōmacandra)[32] and his queen Cāriṇīdevī[33] Nothing is known of their historicity.

The antiquity of the southern Aśmaka is also established by epigraphic evidence. The Hāthigumphā inscription of Khāravela the Great relates that regardless of king Śātakarṇi he sent a large army to the west to strike terror into Asaka (or Asika) nagara[34]. The Nāsik *praśasti* of Queen Balaśrī proclaims that her son Gautamīputra Śātakarni conquered Asika, Asaka, Mūlaka, Suraṭha, Kukura, Aparānta, Anupa, Vidabha, Akāra-Avanti, Vijha, Acavata, Pārivāta, Sahya, Kanhagiri, Maca, Siritana, Malaya, Mahida, Setagiri and Cakora[35].

The name of the Aśmaka ruler subverted by Gautamīputra is, nowhere revealed The Ajanta inscription of Cave No 17, however,

28 Sanghadāsagaṇin, *Vasudēvahiṇḍi* II, p 354 (Bhāvnagar, 1930). *tato tuṭṭho bhaṇai sāmi jai evaṁ vaccāmo nayaraṁ mayā paḍivannaṁ tato amacca parivāra-saṁparivuḍo uttiṇṇamo Goyāvarīnadiṁ tattha hāyā kayaṇḍigā sīhavāhihiṁ turaehiṁ pattāmo Pōyaṇapuraṁ*

29 *Ibid*, II, p 316 30 *Ibid*, II, p 255 31 *Ibid*, II, p 275.

32—33 *Ibid*, I, p 17

34 *Transactions of the International Oriental Congress*, III, p 135 (Leyden, 1883), Jayaswal, *J B O R S*, XIII, pts 3 & 4, pp 221-24 ; Barua, *Old Brahmi Inscriptions in the Udayagiri and Khandagiri Caves*, pp. 11, 42 (Calcutta. 1929) *dutiya ca vase acitayatā Sātakaṇiṁ pacimadisaṁ haya-gaja-nara-radha-bahulaṁ pathāpayati Kaliṁgāgatāyaca senāya vitāseti Asakanagaraṁ.*

35 Burgess, *Arch Survey of Western India*, IV, Nāsik No. 14, pp. 108-9, *E I*, VIII, p 60 Cf The *Dakṣiṇātya* countries mentioned in the *Harivaṁśa*-Mūlaka, Aśmaka, Dāndika Kalinga, Asinka, Kuntala, Navarāṣtra, Mahiṣaka, etc , Jinasena, *Harivaṁśapurāna*, XI, 7), p 210 The Asika of the Nāsik record is probably the same as the Asinka of the *Harivaṁśa* and the Aśika of the *Matsyapurāṇa*, CXIV, p. 309 (S B. H Series)

Mahārāja Rudradāsa who bore the epithet of meditating on the feet of the paramount sovereign (*Parama Bhaṭṭārakapādānudhyāta*) and made a gift of the field of Ghōṭakatala to the west of the village of Vikaṭṭānaka in the Kasapura sub-division (?) The boundary of the field is mentioned as extending till Kohalaṭṭaka which may be a field or village. The grant was made to a Brāhmana named Drōnilaka of the Bhāradvāja gōtra[41] The extant portion of the plates does not give the genealogy but from its find spot and the suffix *dasa* it has been inferred that Rudradāsa belonged to the family of the rulers of Asmaka it is possible that Rudradāsa may be the elder son whose name is now illegible in the record (i e Ajanta Cave no 17) of Kṛṣnadāsa. [42]

A third record found on a pilaster in Nāsik Cave No 26 and in characters belonging to the latter half of the sixth or beginning of the seventh century A D contains the details that Bhāvirāja was the minister of the magnanimous Aśmaka king (*mahānubhāvāśmakarāja mantrinam*)[43] The son of Bhāvirāja Devarāja is likewise said to have continued in the same office (after the death of his father) (*itthambhūtosya putrōpi Dēvarāja dhurandharah*)[44] In honour of Bhāvirāja and that of his father and mother, Bhiksu Buddha bhadra caused to be built a temple of Buddha[45] The reference to the Aśmaka king appears to connect this record with that of Cave No 17[46]

Towards the middle of the fifth century A. D the Aśmakas fell a prey to the arms of the Rāṣṭrakūṭa ruler Manānka The Pāṇḍu rangapaḷḷi plates of Avidhēya assigned by Dr Krishna to A D 516 contain the significant details that Manānka, his grand father, conquered the countries of Anga, Vidarbha, Aśmaka and Satkunṭa[47] It has been rightly opined that this shows that Manānka had to struggle against the rulers of the later Gupta Vākāṭaka and Aśmaka

41 I A XVI pp 99 100 42 *Ibid* p 99 43 Burgess Op Cit pp 133 136 44 *Ibid* pp 134 5 45 *Ibid* 46 *Ibid* p 58

47 *Mys Arch Rep* 1929 pp 197 8 207 *Svasti Vasudhādhipatir Anga Vidarbha Aśmaka vijet Mānankanṛpatiḥ*

parasol. The latter's son was Hariśāmba, whose son was Śauriśāmba The next king was Upendragupta who is called one of widespread fame (*pṛthu kīrttir dyutimān*), but his relation to Śauriśāmba is not clear. Upendragupta's son was Kāca who was the first of that name. Whether Bhikṣudāsa was the son of Kāca is also not clear from the record, But Bhikṣudāsa's son was Nīladāsa who became famous on earth (*pṛthito bhuvi*) His son and successor was Kāca (II), whom the record styles as one of brilliant fame (*prathitaḥ Kāca iti pradīpta kīrttiḥ*) Nīladāsa, the son of Kāca then became the increaser of the splendour of that king's race and line. Kṛṣṇadāsa's queen was named Sucandrā, and they had two sons, the elder (name lost) and the younger Raviśāmba. Of these brothers the inscription records thus :—" .. (with or by) Aśmaka and others ... having conquered with very great .. .. . they shone like sun and moon . While those two whose creeper-like friendship and glory had grown very much, were living always in concord and happiness, the thunderbolt of ... . .whose decree is not to be evaded even by ... . and whose dread strength is produced by deeds done in former existences, was hurled on the younger one"[39]. It has been observed that this implies that the younger brother died a premature death[40] It cannot be made out from the fragmentary inscription who exactly built the great *Caitya* whose construction is mentioned in the record, but it was obviously by the Aśmaka king or his minister Acintya The expression used in connection with the elder brother that "he was the first born to enjoy the office of the sole ruler" (*ekādhipatyaṃ prathamo babhāra*) implies that he assumed independence

The name of this elder brother of Raviśāmba seems to have been preserved in a copper-plate from Śirpūr in the Khāndesh district The grant is in shell-characters which have been referred to the beginning of the sixth century A D. This record is one of a

39 Burgess and Indraji *Op Cit* pp 73-76, Burgess, *A S W I*, IV, pp 128-132

40 Burgess, *Ibid*, p 131, but Bhagvānlāl (Burgess and Indraji, *Op Cit*, p 73) is of opinion that the elder murdered Raviśāmba and later repented for it.

Mahārāja Rudradāsa who bore the epithet of meditating on the feet of the paramount sovereign (*Parama Bhaṭṭārakapādanudhyāta*) and made a gift of the field of Ghōtakatala to the west of the village of Vikaṭṭānaka in the Kaśapura sub-division (?) The boundary of the field is mentioned as extending till Kohalattaka which may be a field or village The grant was made to a Brāhmana named Drōnīlaka of the Bhāradvāja gōtra[41] The extant portion of the plates does not give the genealogy but from its find spot and the suffix *dasa* it has been inferred that Rudradāsa belonged to the family of the rulers of Aśmaka. it is possible that Rudradāsa may be the elder son whose name is now illegible in the record (i e Ajanta Cave no 17) of Kṛṣnadāsa [42]

A third record found on a pilaster in Nāsik Cave No 26 and in characters belonging to the latter half of the sixth or beginning of the seventh century A D contains the details that Bhāvirāja was the minister of the magnanimous Aśmaka king (*mahānubhāvāśmakarāja mantrmam*)[43] The son of Bhāvirāja Dēvarāja is likewise said to have continued in the same office (after the death of his father) (*ūlhambhūtosya putrūpi Dēvarāja dhurandharah*)[44] In honour of Bhāvirāja and that of his father and mother, Bhikṣu Buddha bhadra caused to be built a temple of Buddha[45] The reference to the Aśmaka king appears to connect this record with that of Cave No 17[46]

Towards the middle of the fifth century A. D the Aśmakas fell a prey to the arms of the Rāṣṭrakūṭa ruler Mānānka The Pāṇḍu rangapalli plates of Avidhēya assigned by Dr Krishna to A D 516 contain the significant details that Mānānka his grand father, conquered the countries of Aṅga, Vidarbha, Aśmaka and Sīkunṭa[47] It has been rightly opined that this shows that Māṇānka had to struggle against the rulers of the later Gupta Vakūṭaka and Aśmaka

41 I A XVI pp 99 100 42 *Ibid* p 99 43 Burgess, Op *Cit* pp 133 136 44 *Ibid* pp 134 5 45 *Ibid*. 46 *Ibid* p 58

47 *Mys Arch Rep* 1929 pp 197 8 207 *Svasti Vasudhādhipati Anga Vidarbha Aśmaka vijet Mānānkan'patih*

territories prior to his rise to power[48]. It is evidently to these southern Aśmakas that Varāhamihira refers to in the following order Among the peoples of the south were the Coḷas, Drāviḍa (Pallava), Videha (? , Āndhra, Aśmaka, Konkana, Kuntala, Kerala, Dandaka, Mlēccha etc [49].

The interstate relations in the Daksināpatha about this time have been vividly described by Dandin in the *Dáśakumāracarita:* In Vidarbha, Anantavarmā succeeded Punyavarmā of the Bhōjavamśa The new king spent his time in dissipation and his minister Vasurakṛita realised that the kingdom might fall into the hands of the neighbouring king, and feudatory, Vasantabhānu, the ruler of Aśmaka Before long the Aśmaka king took stock of the decadent state of affairs in Vidarbha, and through Indrapālita, son of his minister Candrapālita, and other secret agents, soon reduced the Vidarbha army to sore straits by internal treachery Vasantabhānu then incited Bhānuvarmā, the king of Vanavāsi, to wage a war with Anantavarmā (*atha Vasanta bhānu Bhānuvarmaṇāṃ nāma Vanavāsyaṃ prōtsāhya Anantavarmaṇāṃ vyagrāhyat*) When the borders of his dominion were invaded Anantavarmā set his army in motion. Outwardly Vasantabhānu maintained a semblance of loyalty and, by forestalling the other feudatories in rendering his services against the Vanavāsya. became a favourite of the Vidarbha king The royal army then marched out and encamped near the Narmadā Among the feudatories of Vidarbha was the Kuntala prince (*Kuntalapati*) *Mahāsāmanta* Avantideva Then in the camp Anantavarmā became enamoured of a female dancer, in the service of Avantideva, named Ksamātalōrvaśī Vasantabhānu observed this and acquainting Avantideva of Anantavarmā's dissipation poisoned his mind against the latter. Thereafter with a combined army consisting of 100 elephants of Vasantabhānu and 500 of Avantideva, they allied themselves with other disaffected chiefs like Vīrasena, ruler of Muralā, Ēkavīra, the chief of Rsika, Kumāragupta, the ruler of Konkaṇa and Nāgapāla,

48 *Ibid*, p 208; also read *the Early Rāṣṭrakūṭas of Mahārāṣṭra*, in *K V. Rangaswami Aiyangar Comm Volume*, p 58 (Madras, 1940)
49, *Bṛhastamhitā* XVI, II, p 101.

the ruler of Nāsikya, and winning over other feudatories the rebels gave battle to Anantavarmā and completely defeated him Vasantabhānu whom Daṇḍin calls *nayāvaliptaṃ Aśmakendra* and *Satyaniśtura Aśmaka* subsequently brought about a quarrel among the princes on the pretext of dividing the spoils of war according to power, whereupon he seized their wealth He then gave a small portion of it to Bhānuvarmā and marching back established himself in Vidarbha for a short time[50]

How far this account can be relied upon for historical purposes cannot be made out Most of the rulers of this confederacy are unknown from other sources Of these however Bhānuvarmā alone can be identified with a certain degree of precision It is possible that this Vanavāsya Bhānuvarmā is the same as Kadamba Bhānuvarmā, the younger brother of Ravivarmā A solitary copper plate hailing from Halsi records a grant made by Kadamba Bhānuvarmā and another by a follower or subordinate of his named *Bhōjaka* Paṇḍara, in the reign of his elder brother Ravivarmā It continues as follows ' and his (Ravivarma s) younger brother is king Bhānuvarmā, who is resplendent, and who effects the welfare of himself and of others[51] Land of the measure of 15 *nivartanas* in (the field called) Kardamapati at Palāśikā free from gleaning tax and all other burdens was assigned in a copper-charter (and so was given) on the 10th lunar day in the 6th fortnight of the winter season in the 11th year of the reign of the pious great king Sri Ravivarmā by the *Bhōjaka* Paṇḍara the worshipper of the supreme *Arhat*, who had acquired the favour of the feet of the glorious king Bhānuvarmā [52]

In the above record the phrases *Bhūpakanīyaṃ* and *Śrīmad Bhānuvarmarājalabdhapāda prasādena* imply that Bhānuvarmā enjoyed a certain amount of independence Indeed Fleet observed

---

50 Daṇḍin *Daśakumāracarita* VIII pp 190 203 (Bombay 1903 Ed Godbole and Parab)

51 I A VI p 28 *tad bhrātā Bhānuvarmā svaparahitakaro bhāti bhūpakanīyam*

52 *Ibid*

thus on the latter epithet · "Apparently, then, Ravivarmā and Bhānuvarmā were reigning jointly."[53] The identity of Vanavāsya Bhānuvarmā and Kadamba Bhānuvarmā, if tenable, shows that Kadamba Bhānuvarmā was engaged on his northern frontier in subverting the Vidarbhas, while his elder brother was in Banavāsi, thereby supporting Fleet's suggestion that Bhānuvarmā was an important personage in Kadamba history. It may also be noted that the Kadambas were in some way connected with the Vidarbhas Thus *Bhōjaka* Pandara, *Bhōjaka* Dāmakirti[54] and *Bhōjaka* Śrutakirti[55] appear as officials under the Imperial Kadambas

Nothing is known about the southern Aśmaka until the 7th century when Cāḷukya Arikēsari I (C. A. D. 686—713) the lord of Sapādalaksa country is known to have bathed his 500 elephants at Pōdana in tanks filled with oil. This achievement has been mentioned in the records of his successors. Thus Pampa in his *Vikramārjunavijaya*[56], the undated Vemulavāḍa inscription of Arikēsari II[57], and the Parbhani plates of Arikēsari III dated 966 A. D. [58] give an account of this feat.

The Sapādalaksa country mentioned above was no other than the southern Aśmaka As we have already seen Pōdana was the capital of Aśmaka. This equates the latter with Sapādalaksa, and is corroborated by a verse in the *Yaśastilaka* which is as follows

Garjim jahīhi Bhōjāvanīsa Cēdīśa viśāśmavaśaṃ pradeśaṃ

Aśmantakavēśmavihāya yāhi Pallava laghukēlirasaṃ apaihi[59]

53 *Ibid*, p 29, note (4)

54 *Ibid*, pp 24—25.

55. *Ibid*, pp. 26—27

56 Pampa, *Vikramārjunavijaya*, I, 16—17, p 4. (1931)

57. *Jl Andhra H. R S* VI, Pts 3—4, p 185.

58. *Prabuddha Karnāṭaka* for Śrīmukha Samvatsara, *Vināyaka Sancike*, p 78, ff; Q. J B I. M XIII, No 31 p 49

59. Sōmadēva, *Yaśastilaka Campū*, I, i, 207, p 187, (Bombay, 1916)

The commentator Śrutasāgara observes as follows on the word Aśmantaka *he Aśmantaka Sapādalakṣaparvatanivāsin tvaṃ veśmagṛham vihāya tyaktvā yāhi gaccha*[60]

It is interesting to note that Sapādalakṣa was also known as Barbara. This detail is also found in the following eulogistic verse in the *Yaśastilaka*

Garvaṃ Barbara muñca mā carata re Pāñcālakaccāpalaṃ

kelīṃ Kerala saṃharapraveśa rē Madreśa deśāntaraṃ[61] etc.

The commentator gives the following rendering *rē Barbara Sapādalakṣaparvatādhīśa tvaṃ garvaṃ muñca madaṃ parihara mithyābhimānaṃ tyaja*[62]

From this account the following may be deduced

1 That Sapādalakṣa denoted the region of One lakh and Quarter Mountains—a meaning which is synonymous with Asmaka the rugged or mountainous country

2 That Aśmaka Sapādalakṣa and Barbara were different names of Asmaka

3 That Pōdana must have been their capital

The vicissitudes of Aśmaka cannot be traced in the period after Arikēsari I The city of Pōdana however became the capital of the Rāṣṭrakūṭa monarch Indra III (A. D 915—922) The Bōdhan inscription of the reign of Trailōkyamalla Someśvara I dated A D 1056 relates that the Indra nārāyaṇa temple erected at the capital Bōdhana by the Rāṣṭrakūṭa emperor Indra Vallabha having gone to ruin Perggaḍe Jogapayya a servant of Someśvara I renovated and endowed it with gifts (specified)[63]

60 *Ibid*, p 188 *Jl Or Research* XII p 264

61 & 62 Somadeva, *Ibid* I iii 113 p 396

63 *Hy Arch Series* No 7 pp 2 4

It is evidently this Pōdana which has been immortalised in the annals of the Jainas of the south. In the 10th century it became associated with Cāmundarāya about whose patronage to Jainism many accounts bear witness. Thus the Gommateśvara temple inscription dated A D. 1180 narrates as follows · Who is so honourable as the high-souled Bāhubali, son of Puru, who having generously handed over the kingdom of the earth to his elder brother, who on defeat in a regular hand-to-hand fight unjustly left off speaking and when even the discuss thrown by him proved a failure was seized with shame, - went forth and destroyed by his penance the enemy *Karma*? The emperor Bharata conqueror of all kings, son of Purudeva, *caused to be made near Paudanapura* with joy of mind, an image, 525 bows high, resembling the victorious-armed Bāhubali kēvali After the lapse of a long time, a world terrifying mass of innumerable *kukkutasarpas* having sprung up in the region near that Jina, that enemy of sin obtained indeed the name Kukkuteśvara. Afterwards that region became invisible to the common people, though seen even now by many skilled in spells and charms (*prākrtargg āyt agōcaraṃ ant ā mahī mantra-tantra niyatar kkānbar ggad innuṃ palar*) . On hearing from people of the celebrated supernatural power of that Jina, a desire arose in his mind to see him and when he prepared himself to go, he was told by his preceptors that the region of that city was distant and inaccessible (*dūram durgamam tat-purāvant end-āryajanaṃ prabhōdisidode*) whereupon, saying " in that case I will cause to be made an image of that god," Cāmuṇḍa Rāya had the exquisite image of Gommaṭeśvara made at Sravaṇabelgoḷa[64]

This Paudanapura has been identified with Pōdan, modern Bodhan a village lying in Lat 18°40′ and Long 77°53′ in the Nizamabad district of H. E H the Nizam's Dominions[65]

The Caulukyas of Gūrjara-maṇḍala had also political dealings with Sapādalaksa Mērutunga asserts that soon after his accession to the throne, Mūlarāja (A D. 941) was assailed by two armies, first by

64. E C II, No 234 (85), p 98 , Saletore, *Mediaeval Jainism*, pp. 109—111,
65. Saletore, *Ibid*, p. 186

that of the Sapādalakṣīya rāja and then by Bārapa general of Tailapa the king of Telangadesa. Unable to withstand these attacks Mūlarāja fled to Kanthādurga[66]

Jayasimha Siddharāja I (1094–1144) is known to have conquered according to many inscriptions[67], the lord of Avanti Tribhuvanaganda and Varvaraka (Barbaraka)[68] It is related how Hemacandra alone could explain the Samskṛta verse sent by the king of Dahāla to king Jayasimha On another occasion the king of Sapādalakṣa sent for Jayasimha s court poets the first portion of a Prākṛta *dodhaka* when Hemacandra immediately composed the other half of it[69] It appears that the name of the Sapādalakṣa ruler was Ānaka[70]

Kumārapāla (1149—1173) upon his accession to the throne decided to subjugate Arnōrāja the arrogant king of Sapādalakṣa But he was successful only in the twelfth attempt when Arnōrāja was defeated in the battle of Mount Arbuda Mērutuṅga says that Kumārapāla having restored peace at home led an expedition against Arnōrāja or Ānaka king of Sapādalakṣa, and later against (the Śilāhāra) Mallikārjuna[71] It is also related how when this ruler was converted to Jainism by Hemacandra he proceeded to Sōmanātha Pattana where he was initiated into Jaina rites like *abhakṣaniyama śrāddha dharma* etc. after which he promulgated a humanitarian decree which forbade killing of animals in Lāṭa Surāṣṭra Mālava Ābhira, Mēdapāṭa Maru and Sapādalakṣa[72] The next ruler Ajayapāladeva (1173 - 1176) is again said to have levied tribute from the ruler of Sapādalakṣa (*karadīkṛta Sapādalakṣa kṣamapāla*)[73] It is not clear whether the Sapādalaksa of the Caulukyas was the same as Aśmaka However the proximity of Aśmaka to Gūrjara mandala is a fact which cannot be denied

66 Merutunga *Prabandha Cintāmaṇi* I pp 24—26 (Bombay 1932) Forbes *Rās Mālā* 1 p 51
67 I A VI Nos 3—10 VII Or Conf Proc p 644
68 Merutunga, *Ibid* III p 119
69 *Ibid* III 22 p 103
70 *Ibid* III 51 p 123
71 *Ibid* IV pp 128 30
72 Jayasimhasūri *Kumārapāla Carita* VII 381 82 (Bombay 1926)
73 I A VI Nos 3 5 10 VII Or Conf Proc. *op cit*

THE SILAPPADIKĀRAM OR THE LAY OF THE ANKLET
TRANSLATED WITH AN INTRODUCTION AND NOTES

By

V. R. Ramachandra Dikshitar.

Speaking about the author's religion Mr Dikshitar says "Far more important is the question of his religious faith. The term 'Kunavayirkottam' is interpreted by Adiyarkkunallar as Aruhankoil, the name generally given to the Jaina temples. From this and from the term Adigal being used as a suffix to his name, the late Mr. Kanakasabhai opined that Ilango was a monk of the Nirgrantha sect of the Jainas But this question is largely interwoven with the faith adopted and adhered to by his brother Śenguṭṭuvan. Adigal is a term of respect and is in use even today among saints, seers and holy men to whatever faith they may belong Again the term Koṭṭam is a general name for temple, and cannot be said to denote particularly a Jaina temple. While we are examining this question it is necessary to call in the testimony of another datum and that goes to establish his religion beyond doubt. This is the fact of Ilango's attending the Vedic sacrifice elaborately performed by his brother after his return from his northern expedition A follower of the Jaina cult, with his watchword of ahiṁsā, could not be expected to attend a function like the Vedic sacrifice This, together with his presence on the occasions of the founding of the Pattini cult, conclusively shows that Ilango was a follower of the orthodox religion like his brother Śenguttuvan"

From this quotation it is clear that Mr Dikshitar is led to erroneous conclusion by ignorance of facts In Tamil, term *velvi* is always used to denote fire ritual Whenever it is intended to refer to Vedic sacrifice involving slaughter of animals they always use the term *Veda-Velvi* which means Vedic sacrifice This is borne out abundantly in Tamil literature Sambanda in his Thevaram, while condemning the Jains, brings the charge that they reject Vedavelvi or Vedic sacrifice. The author of the Kural also uses the same descriptive phrase to refer to Vedic sacrifice Whenever the term

Velvi is used alone it merely means fire ritual without involving animal sacrifice Such a fire ritual has never been condemend by Jains while they were staunchly opposed to Vedic sacrifice on the ground of Ahimsā Even now among the Tamil Jainas fire ritual is a common thing During their marriages they do have the charac teristic marriage Homam with all its necessary details Even in temple worship it is a common practice among the south Indian Jainas Hence it is entirely erroneous to conclude that fire ritual is foreign to Jainas and that it could not be performed or attended by a Jaina

On this erroneous ground Mr Dikshitar bases his conclusion that Ilango could not have been a Jaina by faith for he attended the fire sacrifice performed by the Chera King his brother who is assumed to be a Sanātanist Hindu by faith He miserably fails to notice that even in the sacrificial hall where distinguished good people were assembled there was an address on the Ahimsā doctrine based upon benevolent words of the daughters of the Gods (Kannaki) 'Rise above pleasure and pain in accordance with the approved course of conduct. Know God, and serve those who have known him Fear speaking falsehood Avoid tale bearing *Refrain from meat eating and abjure injury to any living being* Give gifts and perform the prescribed penances Do not give false evidence and never depart from words of truth Do not fail to join assemblies of people learned in Dharma Strive ever to escape the meeting places of the unrighte ous Avoid other people s wives and give succour to those who are dying Protect the household virtues but reject what is bad Abstain immediately from drinking theft lust falsehood, and useless company Youth wealth and the body are impermanent You cannot escape from the days allotted to you nor can you avoid what will happen So seek the best help to the land of your final destination (Heaven) Do all this O dwellers on this wide prosperous earth To preach the doctrince of Ahimsā in the Yāgaśālā after animal sacrifice would be incongruent and absurd Hence the sacrifice referred to must be one based upon the principle of Ahimsā The term used in *Śilappadikāram* for such a sacrifice is *Arravelvi* fire sacrifice according to the doctrine af Ahimsā Chera king Śenguṭṭuvan

is praised in the epic for introducing '*Poobali*' flower offering in temple worship which clearly proves that he was the follower of Ahimsā Dharma His brother Ilango who is testified to be the follower of Ahiṁsā by ancient commentator must be accepted as such It is sheer intellectual perversity to draw any other conclusion based upon ignorance of facts. No doubt the king was tolerant of other faiths; but certainly he was the follower of Ahiṁsā Dharma and his brother certainly the Jaina Sannyāsi by faith.

A C.

New Studies in South Indian Jainism.

III

Sravana Belgola Culture

Sec (II)

A religious system that had preached and cheerfully practised *Such Ahimsa* was a ' religion of strength , a religion of self effort possibly coloured by the Kshatriya origin of its earliest expounders the Thirthankaras especially Mah i Vira It was a religion of the spirit of the spiritual suffusion or spiritualisation of matter by intensive *dikshas* (concentrations) and sikshas (desciplines) which are in no sense emaciations of the body as ununderstanding non Indians call them It was indeed a religion of heroism really a *mahā Viratwa* (महावीरत्व) a grand heroism a practical culture of Soham (सोहम्), capable of realisation and realised indeed by persons in all stations and grades of life high and low, men and women and *lived* in medieval India from day to day in the presence of the populace the nation that lives in the Cottages How it had appealed to the general, common mind of the vast body of Andhra Karnatakas will be clear from a few excerpts from the Sravana Belgola Inscriptions —

Trans (1) ' To the lord of the three worlds obeisance the destroyer of birth by the rays of his speech which establishes the truth overpowering the darkness of ignorance *Santi* (No 90 of A C 1181)

(2) ' Of unlimited joy and highest knowledge remover by his power of the fear of others of a glory manifest to all the Supreme Intellegence— may he fill my mind (No 108 of A C. 1433)

---

1 The Numbers in brackets refer to those in I S B quoted in Section (i) I S B —" Inscriptions of Sravana Belgola by Lewis Rice (Bangalore 1889)

(3) "Shining with all jewels (sciences), freed from bilge water (ignorant people), the various morals its cabins, painted white with the purity of Syât-kāra (doctrine), the ship of faith, on which taking on board those who are overwhelmed in the ocean of family cares, they carry them over to the inland of immortality,—these Thirthankaras, may they be in the middle of my heart (108 of A C. 1433)"

(4) "An ignorant man, manifestly corrupting his mind with passion, and enemity, may fail in devotion to the spirit. the form of all wisdom, the ever peaceful, but how can a wise man for a moment strive for any other end ?" (54 of A C 1128)

From such statements, it is quite clear that what appealed strongest in the Jaina faith was its insistence on *the culture of the spirit, chit* and *ananda,* the spiritualisation or control of the body, the conquest of sex and desire, the dispelling of ignorance, the removal of fear, the cultivation of peace and the assurance of Immortality The conquest of *Samsâra* or the transcendence of the sea of troubles, is its greatest achievement; neither by running away from it, nor by ending it as Hamlet thought, by suicide, but by "cultivating the spirit that is unaffected by it" The freedom from the cycle of births and deaths is its greatest aspiration No wonder, then, that the natural *finale* of such a disciplined life is *Sallekhana,* 'the fast unto death' which is the last giving up of all dependence on earth and things earthly on the way to the Mahâprasthan, 'the great pilgrimage' from which there is no coming back as the Andhra popular funeral dirge[2] Sings This *Sollēkhana* corresponds to *Prāyopavēsana* (प्रायोपवेशन) such as that of Parikshit, a rite of purification of body and the ego, of both the dēha (देह) and dēhi (देहि). It was entered upon most cheerfully by Jaina devotees, monks and

2 'मललो जन्मानिकि रासु मरिचिपोकंडी' (we don't come again to birth Please don't forget us)

laity men and women rich and poor, and was celebrated as the "Crowing glory of a life Lewis Rice who first edited these epigraphs however thought that such a rite was inconsistent with the doctrine of *ahimsa* and therefore said in his Introduction to the volume of Inscriptions of Sravana Belgola [3]

> ' The bitterest satirist of human delutions could hardly depict a scene of sterner Irony than the naked summit of this bare " rock dotted with emaciated devotees, both men and women in silent torture awaiting the hour of self imposed death The irony is complete when we remember that avoidance of the destruction of life in whatever form is a fundamental doctrine of the sect

European critics may still be of the same opinion as Lewis Rice but still it is a significant fact that from the time of Bhadrabāhu in those early centuries down into the nineteenth century, have continued instances of this rite joyfully enthusiastically and without any feeling of torture or pain entered upon by devotees of this great Indian spiritual Sampradaya Here below are details of *Sallekhana* of women that so entered upon this rite —

No (2) Nāgamati Ganti of Chittur in Adeyare-nad 3 months vow

No (5) Jambu Nayagi 1 month vow

No (10) Echal goravi of Kuttara

No (17) Echal goravi wife of Santisena Muni

No (20) (daughter) Nachchikavve

No (28) The great Anantamati Ganti of Naviher Sangha

No (30) Sasirmati Ganti of lofty virtue of firm qualities of great learning

3 I S B page

4 I S B No I

No. (44) A C. 1121 Pôchâmbika, mother of Ganga Raja minister and general.. ....

No. (48) A C. 1122 Dandanayakiti Lakkavve wife of general Ganga Raja... . . .

No. (49) A. C. 1120 Demiakke wife of Chamunda Setti........

No. (53) A.C. 1131 Mâchikabbe mother of Santala Devi, the first queen of Hoysala Vishnuvardhana . ... vow of 1 month

This last mentioned event, the Sallekhana of Machikabbe, the mother-in-law of a reigning king is naturally the most highly celebrated one in these epigraphs and *Lewis Rice's translation* of the passages n the particular[5] epigraph refering to her is quoted here to *disprove his own view* of this rite :—

Trans. " With eyes half-closed, repeating the five words, glorious with meditating on Jinendra, magnanimous in parting from relative, absorbed in the vow of a *Sanyasi*, fasting for one month Māchikabbe herself attained god-head by means of her penance in the presence of all the blessed "

" That Mārasinga's wife, devoted to the feet of Jina, a union of all good qualities, of great attachment to her husband, thus praised by all the world did Machikabbe shine."

"Devoted to the feet of Jina, worshipped by her friends, a Cow of plenty to his dependents, like the wife of Kama, great in good qualities, loving to give, ever devoted to the lotus feet of Munis, a praise to the people, such was Marasinga's wife, thus to praise Machikabbe did the world love."

" Jinanatha being her favourite, Bala Deva her father, the chief of women, Bāchikabbe, the mother who bore her, her youngerbrother Singa ;—possessed of such greatness, the distinguished Machikabbe went to the world of gods amid

5 No 53 of A. C 1131 I S B.

the continual praises of all the earth who can describe her (fitly) he alone can describe her

Among women who took the vow of a sannyasi who was able to endure like this ? While all were thus saying, *she chose with joy the glory of fearful severe penance* while learning shone in her minds praising the lotus feet of Jina amid the plaudits of the world Machikabbe *with exultation* (आनन्द attained god head

× × ×

What Pandit in this world by his death obtained such glory as Machikabbe, performing unbroken severe penance ? (No 53 of A C 1131)

Such heroism with *Jñan* and *ānand* had, no doubt been characteristic of many a *Vīrapatni* and *Vīramāta* in ancient and medieval India

Another characteristic feature of Jainism in its influence of what is generally called high life is to impress on persons in it the idea of the trancience of riches and the great need therefore for their sanctification by utilising them towards acts of social usefulness and exaltation of the faith and commemoration of teachers We often hear in these epigaphs about this changefulness of fortune The idea is thus stated —

No 26 (archaic)

Sura chāpam bole vidyul lategala teravol mañjuvol tore bōgam Pirudum Sri rūpa lila dhana vibhava mahā-ras gal nillav ārggĕ Paramārittham meecha nūn idharmiyulruvān endu Sanyasanage yd uru Satvan Nandisena Ravara meni varan deva lokakke Sandūn

Trans Rapidly vanishing like the rain bow like clustering flashes of lightning or like heavy cloud to whom are the treasures of beauty pleasure, wealth and power secure? Thus saying, having assumed the state of a sanyasi the great mighty one Nandi Sena best and most excellent of munis, reached the world of gods

From this point of view Jainism seems to have centred the whole problem of the spiritualisation of life on the *conquest* of desire, of sense, of sex and it not only recommended it to the ordinary householder, but even to the king, the general and the warrior, even to the most beautiful of them, as such temptations would be strongest to them and turn out to be the most destructive While many literary works convertionally describe a heroic and handsome person in high life as "*a cupid to women*" (नारीमदन), Jainism recommends to such persons, the fight against cupid or Madana as their best fight and his. conquest as the greatest heroism, both in descriptions of famous sages and famous heroes In these inscriptions, this great principle of life is celebrated thus:—

(1) No. 53 of Ac 1131 —Vinayâditya of yādava race has among his titles —" to other's wives a Hanuman[6] (Paravanitage Anilatanayam)

(2) No. 108 of A C 1433:—Of Siddhantayogi it is said— " whom, though his lotus feet were ever tinted with the rays from the crowns of bending kings, no substance and no woman and no clothing and no youthful pride, no strength and no wealth could tempt"

And Bhujbali or Gommateswara or Bahubali the brother of the great Emperor Bharata is celebrated as the greatest exemplar of such a *grand renunciation* to become a teacher of humanity,—an exemplar. This great feat was materialised to all time in the Colossal statue of Gommateswara on the Sravana Belgola Hill made in A. C. 1180 and the inscriptions celebrating it thus describe that *central event* in the life of that great Scion of Indian's most ancient royal and ruling family.—

No 85 of A C 1190

Trans " Of unequalled beauty, superior to Manmatha, victor over kings, of great bounty, having subdued the whole world, *he gave it away*, of great kindness, engaged in penance, his two feet given to the earth, possessed of

6 Compare No. 56 of A C. 1123 I. S B.

perfect wisdom, freed from the bonds of action how great is Bahubalisa !

* * *

' Younger brothers all my brothers have gone to penance if you too go to this penance I care not for this wealth go not —heeding not thy elder brother who spoke thus thou didst take *diksha* Gommata Deva who is equal to thee in sacrifice?

Say not thy feet are in my land it is both thine and mine it cannot be divided the highest merit is *the power of imparting knowledge thus it is said* in the Divine word from they elder brother s thus saying 'hast thou cast away the desire of self glory Gommata Deva

* * *

'Thou having fixed they mind unshaken on the indwelling spirit, love and all the desires of sense have fled away the happiness of perfect spiritual knowledge increases and by the complete destruction of sin thou hast attained the state of final beatitude Gommata Deva and unending happiness"

* * *

"Tho Manmatha had formerly obtained in him the mastery of the empire of desire and he was connected with the empire of the world—the discus weapon resembling the sun discharged from the hand of Bharata having struck on his powerful long arm, he forsook all and for the sake of gaining the happiness of the *empire* of *mukti*, he took diksha Bahubali how do the worthy abandon all saying what is it !"

It is under the ever living inspiration of such a *Rajarshi* that many a king general minister or warrior lived and described themselves as ' Paranari Sahodara" (पर नारी सहोदर) brother to other s women. But the living, no for self-glory, but for the good of others, for the imparting to them of spiritualising knowledge, both by teaching

and the *example* of a life, was pursued as the ideal by the followers of this faith. Thus, tho' an ascetic, a stoic, a heroic, a self-perfecting, a self-denying, a desciplining religion, yet, from the sanyasis to the most ordinary desciples of it, *all lived it* as a *religion of social usefulness* It is when and where it degenerated into a *mere routine*, *shodâsopachara* type of image worship (षोडशोपचार मूर्त्याराधन) and the *merely* traditional forms of respect paid to *gurus* or *mandalacharyas*, that it has assimilated itself to current types of popular Hinduism and become, like them, a mere formula or uninspiring symbolism. There is no use pretending now a days that it has not also so degenerated My veneration is, therefore, to Jainism as it was practised in those early ages, tho' I cannot distinguish it from Popular Hinduism to-day, except in its traditional philosophy But to return to the past; -

A few passages will illustrate its *social appeal* in its palmy days :—

(1) No 47 A C. 1115 Praise of Lakshmimati Dandanayakiti, by disciple of Prabhachandra Sidhanta Deva for her "gifts of food, shelter, medicine and instruction."

(2) No 105 A C 1398. "The ignorant and the wise, the poor and the rich, the lowly and the honourable, evil and the good the sorrowing and the happy, the proud and the happy, the proud and the virtuous, he caused to be Samanta bhadra (fortunate) ....Sri charukirti

To be contd

REMNANTS OF THE 12TH JAINA ŚRUTĀNGA DITTHIVĀDA.*

BY

(Prof Hıralal Jaın Amraotı)

According to the unanimous tradition of both the Digambara as well as the Śvetāmbara Jainas the teachings of the last Tırthamkara Mahāvıra were arranged into twelve books called Angas and they were handed down by word of mouth from preceptor to pupil till they began to fall into oblivion But as to the subsequent history of the Angas the two accounts differ The Svetāmbaras hold that the canon of the Angas was successively settled during the second the sixth and the tenth century after the Nırvāna of Mahāvira by congregations of monks at Pataliputra Mathura and Vallabhı under Sthūlabhadra Skandilācārya and Devardhıganı respectively and that the forty five books now current as Āgamas were the result of the labours of the last congregation The twelfth Anga Diṭṭhivāda was however irretrievably lost and what had remained of it was only the table of contents found in the various books of the restored canon

1 Tradition about the Angas

This tradition the Digambaras do not accept According to them the whole of the original canon was lost and what had remained of it was only fragmentary knowledge of the subject matter which has been reproduced by subsequent writers in their own language The only works which may be said to be directly associated with the canon were preserved in what are popularly known as Dhavala Mahādhavala and Jayadhavala Siddhāntas Of these works however, a single manuscript was known to exist in Kanarese script on palm leaves at the Jaina pontifical seat of Mudabidri in South Kanara For the last several centuries these mss had been used only for worship and they were not available

* A paper read in the Prakrit section of the 10th All India Oriental Conference met at Tirupathi in March 1940

for study. It was only during the last twenty years that transcripts of two of them *i.e.*, the first and the third, had become available, and the information given here was the result of the axamination of those transcripts in connection with the edition of the same which the present writer has undertaken

2

How fragments of Ditthivada were saved from oblivion

An examination of the Dhavala Siddhānta ms. shows that it consists of Sūtras in Prakrit and a very extensive commentary in Prakrit alternating with Sanskrit in the nature of a Bhāsya in which are found many verses, mostly Prakrit, quoted from older writers. This commentary has been called Dhavalā by its author Virasena who reveals himself in the Praśasti as the disciple of Elācārya and also a pupil of Āryanandi the disciple of Candrasena, belonging to the Pancastūpa line of teachers and completing the commentary on the 13th day of the bright fortnight of Kārtika in Śaka year 738, equivalent to the 8th October 816 A. D., when Jagattuṅga deva's reign had come to an end and Boddanaraya was ruling These kings I identify with Govind III and his successor Amoghavarsa I of the Rāṣtrakūta dynasty.

This commentary, in its introductory part, gives information about the composition of the original Sūtras as follows :—

The teachings of Lord Mahāvira were arranged into twelve Angas by his pupil Indrabhūti Gautama, and they were handed down from preceptor to pupil through a line of twenty-eight Ācāryās. But the knowledge was ever decreasing and what the last of the Ācāryās, Lohārya, knew in full was only the first Aṅga. After him only fragments of the Aṅgas were known to Dharasena who practised austerities at Girinagara in Saurāstra (modern Kathiawar). He felt the necessity of preserving the knowledge, and so he wrote a letter on the subject to the monks of southern India who had assembled at *Mahima*, probably Mahimanagarh in the Satara district. The latter sent two monks from the banks of the Benna in the Andhra country, and Dharasena, after satisfying himself as to the capacity of the monks to learn, taught to them the grantha. These two monks came to be known as Pupphayanta (Puṣpadanta)

and Bhūdabalı (Bhūtabalı) and they reduced the knowledge to writing in the form of the Sutras upon which the commentary Dhavalā has been written The contribution of Puspadanta was the first one hundred and seventy seven Sūtras while all the rest of them were composed by Bhūtabalı.

3
Period of restoration

As regards the time of the composition of the Sūtras the commentary helps us to this extent only that it gives the list of Ācāryas up to the twenty eight succession from Mahāvīra records their period of time which comes to 683 years and declares that Dharasena lived sometime after that. But how long after is not made clear Other succession lists also record the same period but one of them the Prakrit Paṭṭāvalı of Nandı Saṃgha differs from them all materially in recording the time of each Ācarya separately in extending the list to four more Ācāryas amongst whom are included our Dharasena, Puṣpadanta and Bhūtabalı and in showing them to have flourished between 614 and 683 years after Mahāvīra The times mentioned herein and the account of the gradual disappearance of the Angas appear to be more reasonable The time given for Dharasena is in agreement with that of another independent authority the *Brihat ṭippaṇikā* which attributes a work by name *Jonīpāhuda* to Dharasena and assigns it to 600 years after Vīra Nirvāna The time of the composition of the Sūtras, thus falls according to the traditional reckoning of Vira Nirvāna betweeen 87 and 156 A D

4
Commentaries on the restored texts

Yet another authority has preserved for us an account of the commentaries that were written from time to time on the Sacred Sūtras This authority is the *Śrutāvatāra* The time of its composition is not definitely settled but one conjecture identifies its author Indranandı with the Indranandı Guru mentioned in the *Gommaṭasāra* This makes Srutāvatāra a work not later than the eleventh century A. D The details preserved in this work about the composition of the Sūtras are substantially the same as those recorded in the commentary of Vīrasena There is yet another circumstance that shows the work to be reliable. The author, when

he speaks about the place of Dharasena in the succession list of Acāryas boldly confesses that 'he does not know it because he came across no book or teacher declaring the same.' This shows that where the author is informative he relies on some tradition, oral or written, and not merely on his own imagination.

Indranandi gives some details of five commentaries written upon the Sūtras before Vīrasena. The first of these was called *Parikarma*, Its extent was twelve thousand Ślokas and its author *Kundakundācārya* the celebrated author of several Prakrit works We find numerous references to Parikarma in the Dhavalā itself and the quotations given from it are all in Prakrit. This shows that the commentary was written in Prakrit The time of Kundakundācārya is about the second century A. D There seems to be no reason to doubt the statement of Indranandi. The second commentary mentioned by Indranandi is *Paddhati* by *Sāmakunda*, also equal to twelve thousand ślokas is extent. The third is *Cūdāmaṇi* by *Tumbulūrācārya* in Kanarese and as extensive as ninety-one thousand ślokas The fourth is ascribed to *Samantabhadra*, a celebrated name in Jaina literature This is said to have been written in "very beautiful and tender Sanskrit," to the extent of forty-eight thousand ślokas. The fifth commentary was the *Vyākhyāprajñapti* by *Bappadeva Guru* in Prakrit equal to seventy-three thousand slokas in extent It was written at *Maganavalli* near *Utkalikā*, a village situated between the rivers *Bhīmarathi* and *Krisnamekha* Indranandi also tells us that Vīrasena had this commentary before him when he wrote the Dhavalā and this is borne out by the fact that we find references to and quotations from it in the commentary of Virasena The details given by Indranandi about the locality where Bappadeva wrote may be taken to indicate that he was more closely acquainted with this work than with the previous ones and that he may not have been separated too long from him Though the time of these commentators is uncertain, we would not be far wrong in separating them from each other by a century and assigning them to the third, fourth, fifth and sixth century respectively

Unfortunately however all these commentaries are at present mere names to us except so far as we can find traces of some of them in the commentaries of Virasena But it is not unlikely that some of them are still reposing in some manuscript stores of the Deccan which has proved itself so pregnant with such treasures awaiting the hand and the eye of the explorer even as the Dhavalī it elf had remained locked up for centuries at Mudabidri

5
Variations in the texts and dogmas and the language of the Sūtras

Even a peep into the Dhaval i is enough to give us a glimpse of the wealth and richness of the literature that Virasena had before him He had to deal with several different readings found in the several Sūtra books (*Sutta potthaesu*) that he had before him and the varying interpretations put upon them by earlier writers and teachers These he frequently quotes refutes or supports, or leaves the question open for the verdict of those ' who might know better than himself Of a particular interest are his references to the dogmas of two different schools of thought which he calls the *Northern* and the *Southern* he himself identifying with the latter He also mentions and quotes from several authors and works that are otherwise unknown to us, for example *Sarasamgraha* of Pūjyapāda *Chedasutta Kammapavāda* and *Daśakarani samgraha* and *Jonipāhu la*

As regards the language of the Sūtras the technical terminology is almost wholly *Ardhamāgadhī* as also many other forms For the rest the phonology and morphology is predominantly *Sauraseni* but exhibiting signs of Mahārāṣṭrī influence Thus we may say that the back ground of the language of the Sūtras is Ardhamā gadhī the general structure is Śaurasenī and there is a superimposi tion of Mahārāṣṭrī How Mahārāṣṭrism has developed in the language might be illustrated here There are several verses of Prakrit quoted by Viras na in his commentary from earlier writers Many of these verses recur in the *Gommaṭasāra* of Nemicandra which was based upon the work of Virasena, and some of those verses appear in the later work in a strikingly Mahārāṣṭricised form Not only this but the contrary phenomenon is also discernible. Some verses in the

Gommatasāra retain the Śauraseni traits while they appear in a Mahārāṣtricised form in the manuscript of Dhavalā. From this it appears probable that the latter traits may have been imparted by the copyists. It is, however, difficult to say definitely at present how far the Mahārāstri influence was originally in the Sūtras and how far it may have been developed later.

6
Extent of Diṭṭhivāda and relation to it of the Saṭkhaṇḍāgama

The most interesting part of the commentary is that it gives us details of the extent of the twelfth Aṅga *Diṭṭihvāda* and indicates clearly what part of it has been reproduced in the present Sūtras Diṭṭhivāda consisted of five parts, the fourth of which was called *Pūrvagata*. Purvagata again, contained fourteen sections, the second of which was known as *Āgrāyaṇīpūrva* Of the fourteen sub-sections of Āgrāyaṇīpūrva, the fifth was *Cayanalabdhi* which itself contained twenty books called *Pāhuḍas*. Amongst them the fourth was *Kammapayaḍi-pāhuḍa* the twenty-four topics of which form the subject matter of the Sūtras and the commentary we are dealing with. Only one small section of the work is based upon Viyāhapannatti.

The work of Puspadanta and Bhūtavali has been called by Virasena, *Chakkhaṇḍa siddhānta* and it acquired subsequently the popular name of *Saṭkhaṇḍāgama*. The names of the six Khaṇḍas are *Jīvaṭṭhāna, Khuddābandha, Bandha-sāmitta-vicaya, vedanā,* Vaggaṇā and *Mahābandha* Their subject-matter is Karma philosophy which is dealt with in the first three khandas from the point of view of the soul which is the agent of the bondage, and in the last three khandas from the point of view of the objective karmas, their nature and extent. On this twofold division of the subject-matter of this Āgama were based the two parts of Gommaṭesāra of Nemicandra Siddhāntacakravarti, namely the Jivakāṇḍa and the Karmakāṇḍa. The first five Khaṇḍas are said to contain six thousand Sūtras and these, together with the commentary Dhavala of Virasena which is said to be Seventy-two thousand ślokas in extent, is popularly known as the Dhavala Siddhānta The extent of the sixth Khanda is said to be thirty or forty thousand ślokas and it is entirely the work of

Bhūtabali himself It is this Khaṇḍa i.e the Mahābandha that is popularly known as Mahādhavala The only surviving manuscript of it still reposes in the sanctuary of Mudabidri Jaina temple

Yet another teacher by name Gunadharācārya is responsible for the preservation of another portion of the Diṭṭhivāda about the same time as Dharasena Of the fourteen Pūrvas the fifth was known as *Jñānapravāda* consisting of twelve *vastus* or subjects Of the twenty Pāhuḍas included in the tenth Vastu, the third was called Pejjadosa pāhuḍa and it is this Pāhuda that was preserved by Gunadharācārya in 180 Gāthās under the name of *Kaṣāya Pāhuḍa* The commentary written by Virasena and his pupil Jinasena on this work is sixty thousand ślokas and is called Jayadhavala This work is popularly known as *Jayadhavala Siddhānta*

The information given in these works as to their origin shows the vast extent of the Anga literature in general and of the twelfth Anga in particular and they afford us a peep into the subject matter of the lost Diṭṭhivāda A fuller scrutiny of their contents is yet to be carried out and it is likely to throw considerable light upon the mystery of the name Pūrva or Pūrvagata and the story of their disappearance In this connection it is noteworthy that the Śvetāmbara Jainas have preserved versions of the first eleven Angas but they take the twelfth Anga to be entirely lost The eleven Angas are disowned by the Digambara school which however, has scrupulously preserved the above mentioned portions of the twelfth Anga unknown to the Svetāmbaras The *two traditions thus* inscrutably seem to complement each other